दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९४ तंत्री-जगजीवन बाउचंद दोशी, सावरकुंडला वर्ष २४ अंक नं० ५

मोक्षमार्ग की रीति

धर्मी शुद्धस्वरूप में आक्रमण करते हैं—शीघ्रता से उसमें प्रवेश करके उसका अनुभव करते हैं; वे परभावों में रुकते नहीं, परंतु उनसे भिन्न होकर शुद्धस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं—उसका अनुभव कर लेते हैं। एक सम्यक्-निश्चय का अनुभव करके ज्ञान शुद्धज्ञानघन महिमा में स्थिर हुआ, वही शरण है, वही शांति है, वही मोक्षमार्ग साधने की रीति है।

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

सितम्बर १९६८ वार्षिक मूल्य ३) रुपये (२८१) एक अंक २५ पैसा [भाद्रपद सं० २४९४

दु:ख का उपाय धैर्य

हे जीव! इस संसार में अनेक प्रकार के दु:ख आयें, अचानक वज्रपात जैसी प्रतिकूलताएँ आ पड़ें; मन आकुल-व्याकुल हो जाये;—ऐसे समय में भी धैर्यसहित इतना तो अवश्य लक्ष में रखना कि अपना वह दु:ख तूने स्वयं ही उत्पन्न किया है। या तो पूर्वकाल में देव-गुरु-धर्म की विराधना से, या किसी साधर्मी के तिरस्कार से, किसी सत्कार्य में विघ्न डालकर, या पूर्वकाल के ऐसे ही किन्हीं क्लिष्ट परिणामों से तूने अपना दु:ख उत्पन्न किया है।—इसप्रकार दु:खकारणों को जानकर अत्यंत तीव्रता से छोड़।

पुनश्च, संतों की महत्त्वपूर्ण सीख है कि—'आपत्ति काल में धैर्य और शांति रखना वह सच्चे मुमुक्षु का कर्तव्य है... सच्चा आत्मार्थी उन प्रसंगों को लाभरूप परिणमित करता है; चाहे जैसी परिस्थिति में भी आत्मार्थी अपने आत्मार्थ से च्युत नहीं होता।

—: मुफ्त मंगा लें :—

श्री टोडरमल स्मारक-भवन द्वारा गठित पाठयक्रम-समिति द्वारा तैयार करायी गयी जैनधर्म-शिक्षण की पाठयपुस्तक बालबोध पाठमाला भाग-२, मूल्य ५० पैसे, व वीतरागविज्ञान पाठमाला भाग-२, मूल्य-६५ पैसे छप चुकी हैं। जैन स्कूलों और पाठशालाओं को नमूने मुफ्त दिये जा रहे हैं, इच्छुक संस्थायें व रुचिवंत व्यक्ति २५ नए पैसे का पोस्टेज भेजकर मंगा लें। तथा एक पुस्तक की ५० से अधिक प्रतियाँ लेनेवाले को २०-प्रतिशत कमीशन दिया जावेगा।

मंत्री-टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर-४

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्र० गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

सितम्बर : १९६८☆ भाद्रपद, वीर नि०सं० २४९४, वर्ष २४ वाँ ☆ अंक : ५

भाई! तुझे बहुत काम करना है।

भाई, मनुष्य-भव के अल्पकाल में तुझे आत्मा का बहुत काम करना है, और बहुमूल्य रत्नों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान एक-एक क्षण बीतता जा रहा है।

शुद्ध जीवस्वरूप का अनुभव मोक्षमार्ग है; शुद्धस्वरूप के अनुभवरहित जो भी क्रिया है, वह सब मोक्षमार्ग से शून्य है। अनुभवदशा में अशुद्धता का अभाव होकर आनंद का वेदन है; अनुभवज्ञान के साथ आनंद की अस्ति एवं राग की नास्ति है; ऐसी दशा के बिना मोक्षमार्ग नहीं होता। धर्मात्मा तो अनुभवदशारूप ज्ञान एवं अशुद्धता के अभावरूप क्रिया—ऐसी ज्ञान-क्रिया की मैत्री से शोभायमान है।

आनंद की प्राप्ति और दुःख का अभाव—दोनों का एक ही भूमिका में समावेश होता है। धर्मी को ऐसी भूमिका के अनुभव द्वारा चैतन्यमय सुप्रभात का उदय होता है।

भाई, इस मनुष्यभव में तुझे आत्मा मिला है या नहीं? बाह्य-संयोग प्राप्त हुए, उनमें आत्मा का हित नहीं है, अंतर की अनुभवदशा में शुद्ध आत्मा को प्राप्त कर!

अनुभूति की क्रिया

[पर्याय में अशुद्धता होने पर भी, शुद्धात्मा के अनुभव की रीति]

भाई, जब देख तब तेरे अंतर में शुद्ध आत्मा प्रकाशमान है; एक क्षण भी उसका विरह नहीं है। जिसप्रकार तीन काल को जाननेवाले सर्वज्ञ का त्रिकाल में कभी विरह नहीं है, उसीप्रकार आत्मा के शुद्धस्वरूप का कभी विरह नहीं है। अंतर में दृष्टि डालकर देख इतनी देर है... शुद्धनयरूपी नेत्र खोलकर देख तो आत्मा शुद्धस्वरूप से प्रकाशमान है। ऐसे आत्मा के अनुभव की क्रिया यहाँ आचार्यदेव ने समझायी है। इस अनुभूति की क्रिया में मोक्षमार्ग का समावेश होता है।

शुद्धनय के विषयरूप आत्मा कैसा है, वह प्रगट करते हैं—समस्त परभावों से जो भिन्न है, जो अपने से सर्व प्रकार से पूर्ण है, जिसे आदि-अंत नहीं है, जो एकरूप है, समस्त संकल्प-विकल्प का जला जहाँ विलय हो गया है—ऐसे आत्मस्वभाव को प्रकाशमान करता हुआ शुद्धनय उदय को प्राप्त होता है। देखो, ऐसे आत्मा की अनुभूति और प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है।

कर्म का उदय तो परद्रव्य में गया, और उस उदय की ओर के रागादिभाव, वे परभाव हैं; ऐसे परद्रव्य और परभावों से भिन्न ज्ञायकभावमात्र आत्मस्वभाव है; उस स्वभाव को शुद्धनय प्रकाशित करता है। परद्रव्य, उनके भाव तथा उनके निमित्त से होनेवाले रागादि विकार, वे सब आत्मस्वभाव से अन्य होने से परभाव हैं। उन परभावों से भिन्न तथा निजस्वभाव से परिपूर्ण—ऐसा शुद्ध आत्मा है। ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव शुद्धनय द्वारा होता है; इसी को शुद्ध जीवतत्त्व कहा जाता है।

शुद्धनय स्वयं निर्मल पर्याय है; वह भूतार्थ अभेद आत्मा को देखता है; उसके साथ अभेद करके उसी को शुद्धनय कह दिया। अनादि-अनन्त एकरूप पारिणामिक परमज्ञानस्वभाव से वर्तता हुआ जो भूतार्थस्वभाव, उसका अनुभव करनेवाला 'शुद्धनय भूतार्थ' है अर्थात् शुद्धनय द्वारा ऐसे शुद्धात्मा का अनुभव करने योग्य है। शुद्धात्मा के अनुभव में कोई संकल्प-विकल्प

नहीं हैं। शुद्धात्मा में तो संकल्प-विकल्प नहीं हैं, परंतु उसका अनुभव करनेवाली पर्याय में भी संकल्प-विकल्प नहीं हैं। ऐसा अनुभव हुआ, तब द्रव्य की प्रतीति हुई। वह शुद्ध अनुभव कर्म का क्षयकरणशील है और रागादि का भी क्षय करनेवाला है। शरीरादि नोकर्म, मोहनीयादि द्रव्यकर्म या रागादि भावकर्म—इन तीनों से भिन्न शुद्धात्म-अनुभूति है; अनंत गुणों से परिपूर्ण ऐसा आत्मस्वभाव उस अनुभूति में प्रगट होता है। उसमें कोई भेद नहीं है, विकल्प नहीं है। ऐसी अनुभूति में ही सुख है, अन्यत्र कहीं सुख नहीं है। सम्यग्दर्शन भी ऐसी अनुभूति से ही प्रगट होता है।—यह बात आचार्य भगवान १४वीं गाथा में अलौकिक रीति से समझाते हैं:—

अबद्धस्पृष्ट अनन्य अरु, जो नियत देखे आत्मा को।
अविशेष अनसंयुक्त उसको शुद्धनय तू जानजो॥

शुद्धनय कैसे आत्मा को देखता है ? कैसे आत्मा की अनुभूति से सम्यग्दर्शन होता है ? वह यहाँ बतलाते हैं। अबद्ध और अस्पृष्ट अर्थात् जो कर्म से बँधा हुआ नहीं है तथा जो कर्म से स्पर्शित नहीं है; पर्यायों के अनेक आकाररूप जो अन्य-अन्यपना उससे रहित ऐसा अनन्य एक चैतन्य आकाररूप; बढ़ती-घटती अवस्थारूप जो अनियतपना उससे रहित; नित्यस्थिर चैतन्यस्वभाव में नियत एकाकार; विशेष अर्थात् गुण के भेदों से रहित अविशेष; तथा पर के सम्पर्क से होनेवाला जो दुःख, उससे रहित एकान्त बोधबीजस्वभावरूप ऐसा असंयुक्त—ऐसे विशेषणोंस्वरूप जो आत्मा, उसका अनुभव शुद्धनय द्वारा होता है। शुद्ध आत्मा की अनुभूति कहो, शुद्धनय कहो या आत्मा कहो—सब अभेद है। पर्याय द्वारा अनुभव किया, तब ऐसा आत्मा प्रकाशमान हुआ।

शुद्ध आत्मा को यह अबद्धादि पाँच विशेषण कहे, वे कहीं पाँच भेद बतलाने के लिये नहीं हैं; एकसाथ पाँच भावों से अभेद आत्मा शुद्धरूप से अनुभव में आता है। पहले अबद्धस्पृष्ट जाने, फिर अनन्यपना जाने—इस प्रकार कहीं भेद नहीं हैं; शुद्धनय के अनुभवरूप आत्मा में इन सब विशेषणों का एकसाथ समावेश होता है। शुद्धनय और उसके विषयरूप शुद्ध आत्मा दोनों को अभेद करके बात की है; क्योंकि शुद्धनय की अनुभूति में कोई भेद भासित नहीं होता।

यह अनुभूति शुद्धज्ञानचेतनारूप है; कर्मचेतना या कर्मफलचेतना उसमें नहीं है; साधक को वह होती अवश्य है, परंतु वह अनुभूति से बाहर है। प्रथम तो ऐसी उपयोगरूप निर्विकल्प अनुभूति होती है, उस समय सम्यग्दर्शन होता है; पश्चात् बाहर आने पर भी लब्धिरूप से ऐसी अनुभूति धर्मी को वर्तती ही है। चौथे गुणस्थान से ही धर्मी को शुद्धचेतना की

अनुभूति प्रारम्भ हो गयी है; वह अनुभूति आनंदचेतनारूप है। आत्मा की अनुभूति में बहुत गंभीरता है। व्यवहार की (रागादि की) पर्याय का उसमें समावेश नहीं होता, वह तो 'अनात्मा' है; शुद्धनय के विषयभूत आत्मा में उसका अभाव है। बद्धस्पृष्ट आदि परभाव अभूतार्थ होने से जहाँ शुद्ध द्वारा आत्मा अंतरोन्मुख हुआ, वहाँ से परभाव स्वभाव से बाहर रह जाते हैं और उनसे रहित ऐसे शुद्धस्वभावरूप से आत्मा अनुभव में आता है। ऐसा अनुभव करे, तब स्वभाव के समीप हुआ कहा जाता है; उपयोग को स्वभाव में लगाया, इसलिये स्वभाव की समीपता हुई और परभाव से दूर हुआ। बद्धस्पृष्ट आदि विकारी भाव कहीं शुद्धात्मा के अनुभव में साथ नहीं आते; क्योंकि वह स्वभाव की वस्तु नहीं है; इसलिये स्वभाव के अनुभव से बाहर रह जाते हैं।—ऐसे अनुभव का नाम शुद्धनय है।

जिज्ञासु का प्रश्न—

श्रीगुरु ने कहा वैसे शुद्धात्मा का अनुभव करने की जिज्ञासा से शिष्य पूछता है कि—प्रभो! आपने कहा वैसे शुद्धात्मा का अनुभव किसप्रकार होता है? 'जैसा कहा वैसा' किंचित् लक्ष में तो लिया है और साक्षात् अनुभूति के लिये जिज्ञासा से प्रश्न पूछता है कि—पर्याय में तो यह बंध और विकारी भाव दिखायी देते हैं; इनके होते हुए इनसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति किसप्रकार होती है? वह कृपा करके समझाइये। देखो, यह स्वानुभव के निकट आये हुए जिज्ञासु का प्रश्न है।

श्रीगुरु उसे अनुभूति की रीति समझाते हैं—

शुद्धात्मस्वरूप समझाते हुए श्रीगुरु उससे कहते हैं कि—हे शिष्य! पर्याय में जो बंधन और विकार दिखायी देता है, वह अभूतार्थ होने से वे भाव आत्मा के स्वभावभूत नहीं हैं; शुद्धनय के विषयरूप आत्मा में वे भाव नहीं हैं; इसलिये शुद्धात्मस्वरूप को देखनेवाले शुद्धनय द्वारा अनुभव करने पर उन भावों से रहित ऐसी शुद्धात्म-अनुभूति होती है। ज्ञानस्वभाव के अनुभव में वे भाव एकमेकरूप से अनुभव में नहीं आते परंतु भिन्न रहते हैं। इसलिये विकार से भिन्न होकर तथा स्वभाव में एकता करके अनुभव कर, तो जैसा कहा, वैसा शुद्धात्मा तुझे अनुभव में आयेगा।

अनुभव में आ सके ऐसी यह बात है। यह बात दृष्टान्त से स्पष्ट समझाते हैं—

जिसप्रकार कमल-पत्र को जल से स्पर्शरूप अवस्था से देखा जाये तो उसमें जो जल से स्पर्शता है, वह भूतार्थ है अर्थात् वह अवस्था में विद्यमान है; परंतु कमल-पत्र का ऐसा स्वभाव

है कि पानी उसका स्पर्श नहीं करता, जरा ऊँचा करने पर वह कोरे का कोरा होता है; ऐसे अस्पर्शी स्वभाव से देखो तो कमल-पत्र में पानी द्वारा स्पर्शनपना अभूतार्थ है, पानी ने उसका स्पर्श किया ही नहीं है। उसीप्रकार अनादिकाल से बँधे हुए आत्मा को कर्मबंधन एवं विकारी दशा से देखा जाये तो वह बँधा हुआ एवं विकारी दिखायी देता है, इसलिये अवस्था में वह बंधन और विकार भूतार्थ है, विद्यमान है; परंतु आत्मा के ज्ञानस्वभाव में विकार का या कर्म का किंचित् स्पर्श ही नहीं है; ऐसे स्वभाव के समीप जाकर (उसमें उपयोग लगाकर) अनुभव करने से बंधन और विकाररहित शुद्ध आत्मा अनुभव में आता है; वे बद्धस्पृष्ट आदि भाव अभूतार्थ होने से उनसे रहित ऐसा आत्मा शुद्धनय द्वारा अनुभव में आता है।

अकेली विकारी पर्याय को ही देखनेवाला जीव, स्वभाव से दूर और विकार के समीप होकर-विकार में तन्मय होकर आत्मा को विकारी ही अनुभव करता है; परंतु शुद्धनय द्वारा स्वभाव के निकट जा, उसमें तन्मय होकर एकत्वबुद्धि कर, और विकार से दूर हो—उसे भिन्न जान तो शुद्ध आत्मा तुझे अनुभव में आयेगा।

वाह, संक्षेप में अनुभव का मार्ग समझाया है! विकार को अभूतार्थ करके जहाँ स्वभाव में एकता की, वहाँ आनंदसहित आत्मा अनुभव में आता है; वह एकांतबोधबीजरूप है। ऐसे स्वभाव में एकता करना, वह 'हुकम का इक्का' है, कोई परभाव उसे जीत नहीं सकता।

भाई, तेरी नित्यस्थायी वस्तु क्या है? मात्र ज्ञान-आनंद से परिपूर्ण एकस्वभाव वह तेरी नित्यस्थायी वस्तु है। विकार या पर का संग वह कोई स्थायी वस्तु नहीं है, वह तो क्षण में छूट जानेवाली है; स्वभावोन्मुख होने से वह विकार या परसंग भिन्न रह जाते हैं, इसलिये वे स्वभाव के साथ एकमेक नहीं हैं, परन्तु भिन्न ही हैं। वर्तमान में भी शुद्धनय द्वारा वे भिन्न ही अनुभव में आते हैं। ऐसा अनुभव वह शुद्धनय है; वह सम्यग्दर्शन है, उसमें आत्मा सत्यस्वरूप से प्रकाशमान है।

भाई, जब देख तब तेरे अंतर में ऐसा शुद्ध आत्मा प्रकाशमान है, एक क्षण भी उसका विरह नहीं है। जिसप्रकार तीनों काल को जाननेवाले ऐसे सर्वज्ञ का त्रिकाल में कभी विरह नहीं है, उसीप्रकार आत्मा के शुद्धस्वरूप का कभी विरह नहीं है। दृष्टि खोलकर देख इतनी देर है। शुद्धनयरूपी आँख खोलकर देख तो आत्मा शुद्धस्वरूप से प्रकाशित हो रहा है—विकारीभाव उस स्वभाव में प्रविष्ट नहीं हो गये हैं, वे तो ऊपर-ऊपर तैरते हैं—स्वभाव से बाहर ही रहते हैं। ऐसे आत्मा के सम्यक्स्वभाव का तुम अनुभव करो—ऐसा आचार्यदेव का उपदेश है। ●

परम शांतिदायिनी

अध्यात्म-भावना

[आत्मधर्म की सरल लेखमाला]

लेखांक ४१-४२] [अंक २८० के आगे

भगवान श्री पूज्यपादस्वामीरचित 'समाधिशतक' पर पूज्य स्वामीजी के अध्यात्मभावना भरपूर वैराग्यप्रेरक प्रवचनों का सार।

[वीर सं. २४८२ श्रावण कृष्णा दशम]

आत्मा को न देखनेवाला बहिरात्मदर्शी-बहिरात्मा क्या फल प्राप्त करता है और अंतर में आत्मा को देखनेवाला अंतरात्मा क्या फल प्राप्त करता है ?—वह बतलाते हैं—

देहान्तरगतेबीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

यह शरीर, सो मैं हूँ—ऐसी देह में ही आत्मभावना, वह नये-नये शरीर धारण करने का बीज है; और शरीर से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही आत्मभावना, वह देहरहित ऐसे विदेही सिद्धपद का कारण है।

एक ओर देहभावना तथा दूसरी ओर आत्मभावना—ऐसे दो ही भाग लिये हैं। रागादिभावों से जो आत्मा को लाभ मानता है, उसे भी वास्तव में देह में ही आत्मभावना है; जिसने राग से लाभ माना, उसे राग के फल में जो-जो संयोग मिलेंगे, उनमें भी वह आत्मबुद्धि करेगा और उससे नवीन-नवीन देह धारण करके संसार में परिभ्रमण करेगा। परंतु अरे! मैं तो राग से और देह से पार चैतन्यतत्त्व हूँ—ऐसी आत्मभावना करना, वह मोक्ष का कारण है।

देखो, आजकल तो बिना राजा के राज्य जैसा हो गया है, जैनधर्म के नाम से लोग जिसे जो अच्छा लगे, वैसा मनवा रहे हैं। अरे! इस पंचम काल में वर्तमान में तीर्थंकर-केवली-आचार्य-उपाध्याय एवं साधु—इन पाँच का विरह पड़ा है और अनेक जीव स्वच्छंद का पोषण करनेवाले विराधक पैदा हुए हैं... शास्त्रों का भी विपरीत अर्थ करके अपनी विपरीत दृष्टि का

पोषण करते हैं और राग से तथा देहादि की क्रिया से धर्म होता है—ऐसा मानते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि—ऐसे जीव देह को ही आत्मा माननेवाले हैं और उसके फल में पुनः-पुनः देह धारण करके वे भवभ्रमण करेंगे। चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर, उसी में जो आत्मभावना करते हैं, वे विदेह पद को प्राप्त करते हैं, अर्थात् अशरीरी सिद्धदशा को प्राप्त होते हैं। शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता, वह आत्मभावना है और ऐसी आत्मभावना ही मोक्ष का कारण है। इसके सिवा व्यवहाररत्नत्रय के राग से लाभ मानकर उसकी जो भावना करता है, उसे देह की ही भावना है। यों तो भले ही उसे देह धारण करने की भावना न हो, परंतु देह में आत्मबुद्धि वर्तती है, वही देह धारण करने का कारण है। देह के लक्ष से होनेवाले रागादि की जिसे भावना है, वह भी देह को ही आत्मा मानता है। व्यवहाररत्नत्रय के राग की जिसे भावना है, उसे राग से भिन्न चैतन्यतत्त्व की भावना नहीं है, परंतु उसे राग की और राग के फल की ही भावना है और वही भावना, भव का कारण है। चैतन्यस्वरूप रागरहित निर्विकल्प है, उसकी भावना ही मोक्ष का कारण है।

देखो, इस काल आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करनेवाले जीव अत्यंत अल्प होते हैं, तथापि सत्समागम से आत्मा के स्वभाव का बहुमान करके उसका स्वीकार करनेवाले जीव तो अनेक होते हैं; और जिसने आत्मस्वभाव का बहुमान करके उसका स्वीकार किया, वे जीव भी अनुक्रम से आगे बढ़कर सम्यग्दर्शनादि प्राप्ति करेंगे; परंतु जिसने पहले से मार्ग ही विपरीत ग्रहण किया है, सत्य सुनकर भी उसका विरोध करते हैं, राग से और शरीर की क्रिया से धर्म होता है—ऐसी विपरीत मान्यता का पोषण करते हैं, वे जीव तो तत्त्व का विरोध करके संसार में ही भटकते हैं।

जैसा आत्मा का स्वरूप है, वैसा जानकर उसकी भावना (श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता), वह मोक्ष का कारण है। कहा है कि—'भावना भवनाशिनी', परंतु कौन-सी भावना?—तो कहते हैं कि—देह, मैं नहीं हूँ; मन-वाणी, मैं नहीं हूँ; रागादि से भी पार मैं तो ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसी आत्मभावना, वह भव का नाश करनेवाली है। 'केवलज्ञान प्राप्त होता है, आत्मभावना भाने से'; ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा जैसा है, वैसा जाने बिना उसकी सच्ची भावना नहीं होती। जो देह की क्रियाओं को अपनी माने, राग को ही आत्मा का स्वरूप माने, वह तो देह को और राग को ही आत्मा मानकर उन देहादि की ही भावना भाता है। 'देह, सो मैं'—ऐसे

अभिप्राय के कारण वह पुनः-पुनः देह को ही धारण करता है। ज्ञानी अपने ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को देहादि से भिन्न देखता है और वह निजात्मस्वरूप की ही भावना भाता है, वह आत्मभावना द्वारा मुक्ति प्राप्त करता है।—इसप्रकार भावनानुसार भव-मोक्ष होते हैं।

जगत के अन्य जीव अपनी भावना को स्वीकार करें या न करें, परंतु अपनी भावना का फल अपने को मिलता है; शरीर की क्रिया से उसका कोई संबंध नहीं है। देखो, श्री रामचंद्रजी वनवास के समय जब गुप्ति-सुगुप्ति नाम के दो मुनिवरों को आहारदान करते हैं, तब वहाँ वृक्ष पर बैठे हुए जटायु पक्षी को भी भावना जागृत होती है, मुनियों के प्रति भक्ति जागृत होती है, जातिस्मरणज्ञान होता है और मुनिवरों के चरणोदक में गिरने से उसका शरीर भी सुंदर सुवर्ण जैसा हो जाता है। पश्चात् वह व्रतधारी श्रावक होता है और स्वर्ग में जाता है। यहाँ तो ऐसा बतलाना है कि कहीं उस पक्षी के शरीर से आहारदान की क्रिया नहीं हुई थी, मात्र उसने आहारदान के अनुमोदन की भावना की थी... उस शुभ भावना का कैसा फल प्राप्त हुआ! उसीप्रकार जिसे चिदानंदस्वरूप आत्मा की ही भावना है, वह मुक्ति प्राप्त करता है और जिसे राग की तथा देहादि की भावना है—उसी में आत्मबुद्धि है, वह जीव, देह धारण करके जन्म-मरण करता है। इसप्रकार जो जीव शुद्धात्मा को जानकर उसकी भावना भाता है, वह शुद्धात्मदशा को प्राप्त होता है और जो अशुद्ध आत्मा को (रागादि तथा देहादि को) भाता है, उसे अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है; अर्थात् वह मिथ्यादृष्टिरूप से भवभ्रमण करता है। इसप्रकार अपनी भावना-अनुसार भव या मोक्ष होता है। भावना, श्रद्धा-अनुसार होती है। मैं शुद्ध ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसी जिसे शुद्धात्मा की श्रद्धा है, वह जीव उसी की भावना से मोक्ष प्राप्त करता है और 'देह, सो मैं; रागादि, सो मैं'—ऐसी जिसकी मिथ्याश्रद्धा है, वह जीव उन रागादि की ही भावना से भवभ्रमण करता है। जिसे शुद्ध आत्मा की भावना नहीं है, उसे देह की ही भावना है, वह देह धारण करने के कारणों को ही धारण करता है। ज्ञानी तो शुद्ध आत्मा को ही अपना जानकर शुद्धात्मा का ही सेवन करके मुक्ति प्राप्त करते हैं।

—इसप्रकार जीव की भावना ही भव-मोक्ष का कारण है; इसके सिवा कर्म या गुरु, वे कोई वास्तव में भव-मोक्ष के कारण नहीं हैं। ऐसा जानकर मुमुक्षु को देहादि से भिन्न अपने शुद्धस्वरूप की भावना करनी चाहिये॥७४॥

अब, शिष्य पूछता है कि—प्रभो! शरीर में आत्मभावना से जीव, भवभ्रमण करता है

और शुद्धात्मा में ही आत्मभावना से जीव, मोक्ष प्राप्त करता है—ऐसा आपने समझाया परंतु आत्मा को मोक्ष प्राप्त करने के लिये कोई अन्य गुरु तो चाहिये न? उसके उत्तर में श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मात् नान्योस्ति परमार्थतः ॥७५॥

आत्मा स्वयं ही अपने को अपने अज्ञान द्वारा जन्म में भ्रमण कराता है और अपने भेदज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त कराता है।—इसप्रकार अपने भाव द्वारा स्वयं ही अपने संसार या मोक्ष को करता है, इसलिये परमार्थतः आत्मा स्वयं ही अपना गुरु है।

व्यवहार में गुरु-शिष्य का संबंध है। जो हितोपदेश देकर आत्मा का कल्याण करे, वह गुरु कहलाता है; परंतु गुरु ने जो हितोपदेश दिया, वह ग्रहण किसने किया? और तदनुसार आचरण किसने किया? आत्मा स्वयं जब वह उपदेश झेलकर तथा वैसा आचरण करके अपना कल्याण प्रगट करे, तब उसका हित होता है;—इसप्रकार आत्मा स्वयं ही अपने हित का कर्ता होने से परमार्थतः स्वयं ही अपना गुरु है। श्रीगुरु ने तो हितोपदेश दिया, परंतु तदनुसार जीव स्वयं न समझे तो?—तो उसका हित नहीं हो सकता। स्वयं समझे, तभी हित हो सकता है और तभी श्रीगुरु का उपकार कहा जाता है। समझे बिना उपकार कैसा?

श्रीगुरु तो ऐसा हितोपदेश देते हैं कि—'अरे जीव! तू शरीर से और राग से पार चैतन्यतत्त्व है; चैतन्यवीणा बजाकर तू अपने आत्मा को जागृत कर... अंतर्मुख श्रद्धा द्वारा अपने चैतन्य की वीणा को झंकृत कर...' श्रीगुरु का ऐसा हितोपदेश सुनने पर भी, जीव स्वयं जागृत होकर जब तक आत्मा को नहीं जानता, तब तक उसका उद्धार नहीं होता। हाँ, पात्र जीव को देशनालब्धि में ज्ञानी गुरु का निमित्त अवश्य होता है परंतु जो जीव अपनी परिणति को न बदले, उसे श्रीगुरु क्या करें? श्रीगुरु तो धर्मास्तिकायवत् निमित्त हैं; परंतु भव में या मोक्ष में जीव स्वयं ही अपने को ले जाता। श्रीगुरु ने उपदेश में जैसा शुद्ध आत्मा बतलाया, वैसे शुद्ध आत्मा को स्वयं ग्रहण करे, तब श्रीगुरु की सेवा कही जाती है और श्रीगुरु की सेवा से मुक्ति प्राप्त की—ऐसा निमित्त से कहा जाता है।

समयसार की चौथी गाथा में कहते हैं कि—विभाव की कथा का अनुभव जीवों ने पूर्वकाल में अनंत बार किया है, उसका परिचय किया है और उसका श्रवण किया है, परंतु पर

से भिन्न अपने एकत्वस्वभाव की कथा कभी नहीं जानी, कभी उसका अनुभव नहीं किया, तथा आत्मज्ञ संतों की सेवा नहीं की। स्वयं जानी नहीं और जाननेवालों की सेवा नहीं की—ऐसी दोनों बातें बतलायी हैं। जब ज्ञानी के उपदेशानुसार स्वयं अपने आत्मा को जानकर, स्वयं निश्चय-गुरु हुआ, तब अन्य ज्ञानी-गुरु ने उसे आत्मा समझाया—ऐसा व्यवहार हुआ। परंतु यदि स्वयं जागृत होकर आत्मा को न जाने तो गुरु की संगति का फल क्या? गुरु उसे क्या करेंगे?—उसने सचमुच गुरु का संग नहीं किया है।

कभी बाहर से सेवा करने का प्रसंग आया, परंतु उस समय भी ज्ञानी के अंतरंग आशय को स्वयं नहीं समझा; इसलिये सम्यक्त्वादि की प्राप्ति नहीं हुई, और उससे सचमुच उसने ज्ञानी की उपासना की—ऐसा नहीं कहा गया। स्वयं अपने में अंतर्मुख होकर ज्ञान प्राप्त किया, तब ज्ञानी की सच्ची उपासना की—ऐसा कहा गया, अर्थात् जब स्व-आत्मा की सेवा (श्रद्धा-ज्ञान-आचरण) द्वारा स्वयं अपना परमार्थगुरु हुआ, तब व्यवहार में अन्य ज्ञानी गुरु की सच्ची सेवा की—ऐसा कहा गया। अरे जीव! तुझे अनंत काल में ज्ञानी की सच्ची सेवा करना भी नहीं आया। एक बार ज्ञानी को पहिचानकर सच्ची सेवा करे तो वह जीव अवश्य ही स्वयं ज्ञानी हो जाये।

***

[श्रावण कृष्णा ११, गुरुवार सं. २४८२]

निश्चय से आत्मा ही आत्मा का गुरु है। सर्वज्ञदेव और ज्ञानी गुरु मिले, उन्होंने आत्महित का उपदेश दिया, परंतु यदि जीव स्वयं उसे समझकर आत्मज्ञान न करे तो देव या गुरु क्या करेंगे? आत्मा स्वयं-स्वतः अपने स्वसंवेदन से ही अपने को प्रकाशित करता है। जिसप्रकार आकाश को रहने के लिये अन्य कोई आधार नहीं है, वह स्वयं अपने में ही स्थित है; जिसप्रकार काल को परिणमित होने में किसी अन्य का आधार नहीं है, वह स्वयं अपने स्वभाव से ही परिणमित होता है; उसीप्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा स्वयं अपने से ही अपने को जानता है। इसप्रकार जिसका जो स्वभाव है, वह निरालंबी है। आत्मा को आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये किसी अन्य का आधार नहीं लेना पड़ता, स्वयं अपने अवलंबन से ही अपने को जानता है। समवसरण में तीर्थंकर परमात्मा भी सिंहासन से चार अंगुल ऊपर आकाश में निरालंबीरूप से विराजमान होते हैं—

''ऊँचे चतुरांगुल जिन राजें, इन्द्र नरेन्द्र मुनिवर ध्यावें;
जैसा निरालम्बी आत्मद्रव्य, वैसा निरालम्बी जिनदेह।''

भगवान का आत्मा तो केवलज्ञान-आनंदमय निरालंबी हो गया है और देह भी निरालंबनरूप से आकाश में रहता है; समस्त आत्माओं का ऐसा निरालंबी स्वभाव है।

हितोपदेशी गुरुओं का हितकारी उपदेश सुनकर भी, जब तक जीव स्वयं परालंबन छोड़कर स्वोन्मुख होकर आत्मज्ञान न करे और कषायपरिणति को स्वयं न छोड़े, अर्थात् स्वयं अपने उद्धार का प्रयत्न न करे, तब तक अज्ञानभाव के कारण जीव संसार में ही भटकता है; वह स्वयं अज्ञान से अपने को संसार में ले जाता हे, कर्म उसे परिभ्रमण नहीं कराते। और जब वह स्वयं स्वभाव की रुचि करके जागृत हुआ तथा अंतर्मुख होकर आत्मा को जाना, तब वह स्वयं अपने को मोक्ष की ओर ले जाता है। गुरु ने तो उपदेश दिया कि 'तू अपने स्वभावसन्मुख हो, उसी में तेरा हित है;' परंतु स्वसन्मुख होना तो अपने हाथ में है; स्वयं स्वसन्मुख होकर मोक्षमार्ग में परिणमित हुआ, तब व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि श्रीगुरु, मोक्षमार्ग की ओर ले गये।—यह कथन निमित्त से है।

श्री प्रवचनसार गाथा ८० तथा ८२ में आचार्यदेव ने सरस अलौकिक बात की है। गाथा ८० में कहते हैं कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

भगवान अरहंतदेव का आत्मा, द्रव्य से-गुण से और पर्याय से शुद्ध है; उसे जानने पर 'मैं भी ऐसा ही शुद्धस्वरूपी हूँ'—इसप्रकार अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप की प्रतीति होती है, अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है और मोह नष्ट हो जाता है।

देखो! इसमें भी स्वसन्मुख होकर अपने आत्मा को पहिचाना, तब अरहंत भगवान की सच्ची पहिचान हुई।

पश्चात् ८२ वीं गाथा में स्वाश्रित मोक्षमार्ग के प्रमोदपूर्वक आचार्यदेव कहते हैं कि—

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविद कम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं॥

देखो, यह भगवान का उपदेश!! स्वसन्मुख होकर पुरुषार्थ करने का भगवान का

उपदेश है। अहो भगवंतों! आपने स्वाश्रय के पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति प्राप्त की और दिव्यध्वनि में भी आपने स्वाश्रय के पुरुषार्थ का ही उपदेश दिया है। अहो नाथ! आपका स्वाश्रय का उपदेश हमें प्राप्त हुआ है; आपको नमस्कार हो! आपके मार्ग पर हम भी चले आ रहे हैं।

परमार्थ से तो आत्मा स्वयं अपने स्वाश्रय से ही मुक्ति प्राप्त करता है; इसलिये स्वयं ही अपना देव और स्वयं ही अपना गुरु है; और जिन्होंने स्वाश्रय का उपदेश दिया, ऐसे सर्वज्ञदेव तथा ज्ञानी गुरु, वे व्यवहार से देव-गुरु हैं; इसलिये उनके प्रति विनय-बहुमान करते हैं।—इसप्रकार स्वाश्रय का प्रयत्न करनेवाले जीव, निमित्तरूप देव-गुरु आदि का भी जैसा है, वैसा विवेक करते हैं, परंतु बंध में या मोक्ष में आत्मा स्वयं ही अपने को परिणमित करता है, अन्य कोई उसके बंध-मोक्ष को नहीं करता ॥७५॥

मोह को छोड़ और आनंदित हो!

समयसार में आचार्यदेव ने अत्यंत करुणापूर्वक आत्मा का स्वरूप समझाकर मोह को छोड़ने का जोरदार उपदेश दिया है। उसका कुछ सारांश यहाँ दिया जा रहा है।

उपयोगस्वरूप आत्मा को जो नहीं जानता और रागादि परभावोंरूप या शरीरादि जड़रूप ही अपना अनुभव करता है, वह अज्ञानी है; ऐसे अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी को आचार्यदेव करुणा करके समझाते हैं कि—अरे जीव! ऐसे अज्ञान को तू छोड़, छोड़! आत्मा सदा उपयोगस्वरूप है, ऐसा तू आनन्द से जान और इस जड़-चेतन की एकता के मोह को छोड़! आत्मा का रसिक होकर ज्ञान का स्वाद ले! रसिकजन उन्हें कहा जाता है कि जिन्हें ज्ञानमूर्ति

आत्मा का अनुभव ही रुचिकर लगता है... राग की रुचिवाला आत्मा का रसिक नहीं है।

अरे प्रभु! आत्मा को जाने बिना तूने अज्ञान से चार गति के अनेक दुःख सहन किये, परन्तु उस अज्ञानभाव को छोड़ा जा सकता है; इसलिये संत कहते हैं कि—उस अज्ञान को अब तो तू छोड़े! सर्वज्ञदेव ने आत्मा को सदा उपयोगस्वरूप ही देखा है; ऐसे आत्मा के अनुभव द्वारा मोह एक क्षण में टूट जाता है; इसलिये आत्मा का रसिक होकर उस मोह को तू तुरंत छोड़।

रसिकजनों को अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवों को चैतन्यरस का स्वाद अनुभव में आया है, आत्मा के आनन्द का स्वाद लेकर धर्मी उसी में लीन हुआ है, अन्य भावों की रुचि छूट गयी है। अहो, चैतन्य के आनंद का स्वाद अंतर में प्रगट है, वही धर्मी को रुचिकर है-प्रिय है। इसलिये हे जीव! तुझे भी यदि आत्मा के आनंद का रस हो तो तू भी ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को अनुभव में ले।

आचार्यदेव करुणापूर्वक कहते हैं कि—तू मोह को छोड़कर आत्मा के ज्ञानरस का आस्वाद ले। सामनेवाले जीव में मोह को छोड़ने की योग्यता देख ली है, मोह को छोड़ने की पात्रतावाला जीव सन्मुख खड़ा है...! उसे संबोधकर आचार्यदेव कहते हैं कि—हे जीव! तू मोह को छोड़...! आचार्यदेव का उपदेश निष्फल नहीं जायेगा अर्थात् उस उपदेश को झेलकर सामने मोह को छोड़नेवाले जीव हैं।

भाई, आत्मा और अनात्मा कभी एकमेक नहीं हुए हैं; जीव और शरीर कभी एकमेक नहीं हुए हैं; चैतन्य और राग कभी एकमेक नहीं हुए हैं, सदा भिन्न ही हैं; परंतु तूने भ्रम से एकपना माना था, वह अब छोड़... और आनंदित होकर जड़ से भिन्न, राग से भिन्न अपने चैतन्यतत्त्व को अनुभव में ले। तुझे ऐसा लगेगा कि अहो! मेरा यह आत्मा तो सदा ज्ञानस्वरूप ही रहा है; उसका एक अंश भी जड़ के साथ या अनात्मा के साथ तद्रूप नहीं हुआ।—ऐसे आत्मा को देखकर तू प्रसन्न हो, आनंदित हो।

तेरे आत्मा की उपयोग के साथ सदा एकता है, परंतु अनात्मा के साथ (जड़ के या रागादि के साथ) कभी एकता नहीं है; इसलिये ज्ञानरूप होकर ज्ञान का स्वाद ले। भाई, ज्ञान के स्वाद में आनंद है; राग में तो आकुलता का स्वाद है और ज्ञान के वेदन में अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद है; तू ऐसे चैतन्य रस का स्वाद ले। रागादि परभावों से बाहर निकालकर तेरा शुद्ध चैतन्यतत्त्व हमने तुझे दिखलाया; अब आनंदित होकर तू अपने तत्त्व को अनुभव में ले... और राग के साथ एकता के मोह को छोड़।

भाई, तू अंतर में नहीं देखता, इसलिये अपना चेतनस्वरूप तुझे दिखायी नहीं देता और बाह्यभाव तुझे अपने लगते हैं; परंतु वह तो मोह है। वे बाहरी अस्वभावभाव (स्वभाव से भिन्नभाव) तो संयोगरूप हैं और वेगपूर्वक बह रहे हैं, वे प्रतिक्षण आते हैं और चले जाते हैं... तेरा चैतन्यस्वरूप तो ज्यों का त्यों स्थिर है। ऐसे उपयोगस्वरूप से तू अपने आत्मा को देख।

राग के रंग में रँगे हुए जीव को स्फटिक समान अपना स्वच्छ उपयोगस्वरूप दिखायी नहीं देता। मानों सारा आत्मा ही राग के रंग में लिप्त हो गया हो, ऐसा उसे लगता है। भाई, यह राग का रंग तो ऊपर-ऊपर है, वह कहीं तेरे चैतन्यस्वरूप में प्रविष्ट नहीं हो गया है। जिसप्रकार प्रकाश और अंधकार भिन्न-भिन्न हैं, उसीप्रकार उपयोगप्रकाश और रागरूपी अंधकार भिन्न ही हैं, उनमें कभी एकता नहीं है; इसलिये ऐसे भेदज्ञान द्वारा अत्यन्त प्रसन्न होकर तू स्वद्रव्य को अनुभव में ले।

आचार्यदेव कहते हैं कि—जो विकार का ही आत्मारूप में अनुभव करता है, वह दुरात्मा है; आत्मा के पवित्र सवभाव का वह घात करता है। ज्ञान के मीठे-अनाकुल-शांत स्वाद को विकार में मिलाकर वह आकुल स्वाद का ही अनुभव करता है। अरे मूढ़! तेरी ज्ञानज्योति कहाँ गई? तू परम विवेक करके ज्ञान को और राग को भिन्न जान; ज्ञान के स्वाद को ही अपना स्वाद जान। आनंदमय होकर 'मैं ज्ञानस्वरूप ही हूँ'—ऐसा तू अनुभव कर।

आत्मा तो उपयोगस्वरूप है और रागादि तो अनुपयोग हैं, उन दोनों में एकता नहीं हो सकती। अज्ञानी शरीर की क्रिया में आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है अर्थात् पुद्गलद्रव्य से ही अपना अनुभव करता है, वह अनुभव मिथ्या है—दुःखदायी है। तथा अज्ञानी ज्ञान को भूलकर राग के अस्तित्व का घात करता है। अहा, पुद्गल से और राग से भिन्न ज्ञानमात्रभाव से भरपूर आत्मा को जाने तो परम आनंद का अनुभव हो; विवेक जागे और अज्ञान भागे।

अरे अज्ञानी! तू आत्मा को पुद्गल के साथ एकमेक मान रहा है, परंतु हम सर्वज्ञ का आधार लेकर कहते हैं कि—सर्वज्ञदेव के ज्ञान में तो आत्मा सदा उपयोगस्वरूप है—ऐसा आया है। भगवान ने जिसे नित्य उपयोगस्वरूप देखा, वह आत्मा पुद्गलमय कहाँ से हो गया कि पुद्गल उसका हो? भाई, आत्मा और पुद्गल कभी एकमेक नहीं हुए हैं, सदा भिन्न ही हैं; वर्तमान में भी भिन्न ही हैं—ऐसा जानकर तू आनंदित हो, प्रसन्न हो और पुद्गल से भिन्न यह चैतन्यद्रव्य ही मैं हूँ—ऐसा सावधान होकर अनुभव कर। उज्ज्वल चित्त करके ऐसा अनुभव

कर। विकार मैं हूँ—ऐसा मानना, उसमें चित्त की उज्ज्वलता नहीं है परंतु मलिनता है। अपने चित्त को उज्ज्वल करके, अर्थात् ज्ञान को राग से पृथक् करके चिदानंदस्वरूप से आत्मा को अनुभव में ले।—ऐसे अनुभव से तुझे आनंद होगा... मोक्ष के आनंद की झलक तुझे अपने में दिखायी देगी।

अरे, हमने तुझे ऐसा स्पष्ट भेदज्ञान कराके पर से भिन्न आत्मा बतलाया, तो अब स्व-पर की एकता के मोह को तू छोड़ दे। चैतन्य के आनंद का मिष्टान्न छोड़कर विकार का घास खाने की आदत छोड़ दे... विकार तो अनात्मा है, उसमें से कहीं आत्मा का स्वाद नहीं आयेगा; इसलिये उससे भिन्न आत्मा को ज्ञानस्वरूप से अनुभव में ले... उस अनुभव में आत्मा के आनंद का स्वाद आयेगा।

तुझे अपने चैतन्य का सच्चा जीवन जीना हो तो इस अज्ञान को अब तू छोड़... सर्वज्ञ भगवान ने उपयोगलक्षणरूप जीव कहा है, वैसा तू लक्ष में ले। आत्मा को उपयोगस्वरूप से देखने पर तुझे अति प्रसन्नता होगी... तेरे परिणामों में वीतरागी उज्ज्वलता प्रगट होगी। इसलिये ऐसा अनुभव करके मोह को छोड़ और आनंदित हो।

स्वतत्त्व का अवलोकन कर!

मुमुक्षु को स्वतत्त्व को देखने की शूरता चढ़ जाये—ऐसी उसकी अद्‌भुत महिमा बतलाते हुए पूज्य स्वामीजी बारंबार कहते हैं कि—

स्वतत्त्व के अवलोकन से आनंद का अनुभव होता है। स्वयं अपने को देखने में जो महाआनंद है, उसकी जगत को कल्पना भी नहीं है और बाह्य वस्तु को देखने में आनंद मानता है, परंतु वहाँ तो आकुलता का दुःख है; सुख का धाम तो स्व में है, उसके अवलोकन में ही आनंद है।

रे जीव! एक बार स्वतत्त्व को तो देख! बाह्य में मरण जितनी प्रतिकूलता आये तो भी उसकी परवाह न करके अपने स्वतत्त्व को अंतर में देख! स्वतत्त्व को देखने से निजानंद की मस्ती में तू ऐसा मस्त हो जायेगा कि जगत में बाह्य की कुछ महत्ता तुझे नहीं रहेगी। समस्त रस छूटकर चैतन्य के शांतरस में ही तू निमग्न हो जायेगा... तू चैतन्य-आनंद के उद्यान में केलि करेगा। इसलिये शूरवीर होकर अपने स्वतत्त्व का अवलोकन कर!

सम्यग्दर्शन

[उच्च प्रकार की होने पर भी अंतर्मुहूर्त में समझी जा सके-ऐसी बात]

[समयसार, कलश-६ के प्रवचन से]

यहाँ सम्यगदर्शन कैसे शुद्ध आत्मा को देखता है, उसका वर्णन है। पर से भिन्न कैसे शुद्ध आत्मा को देखने से सम्यग्दर्शन होता है, उसकी यह बात है।

जीव को अनादि काल से पर को देखने की आदत पड़ गई है, और पर को जानते हुए उसी में ज्ञान को एकमेक मान रहा है; पर से भिन्न ज्ञान को नहीं देखता और न जानता है। पर से भिन्न एकरूप निजात्मा को देखना-जानना और आनंदसहित अनुभव करना, सो सम्यग्दर्शन है। आत्मा अपने स्वभाव से परिपूर्ण है; वर्तमान दशा को उस पूर्ण स्वभावोन्मुख करके उसका अनुभव करना, अर्थात् द्रष्टा स्वयं अपने में देखे, अपने पूर्णरूप को अपने में देखे—ऐसी अन्तर की दृष्टि, सो सम्यग्दर्शन है।

आत्मा पर से भिन्न है, उसे भिन्न देखना, सो सम्यग्दर्शन है। भाई, यह शरीरादि तो भिन्न हैं; शरीर में कहीं आत्मा नहीं है। शरीर का अस्तित्व आत्मा के अस्तित्व से भिन्न है, और आत्मा का अस्तित्व शरीर के अस्तित्व से भिन्न है। एक में दूसरे का अस्तित्व नहीं है अर्थात् अत्यन्त भिन्नता है, ऐसा भिन्न आत्मा अपने ज्ञान-आनंदादि गंभीर स्वभावों से भरपूर पूर्ण है। स्वसन्मुख होकर उसका वेदन-अनुभवन करना-जानना, वह धर्म की प्रथम भूमिका है, यहाँ से धर्म का प्रारंभ होता है। अंतर में आनंद का स्वसंवेदन होने पर ऐसा ही संपूर्ण आत्मा आनंद से भरपूर है—ऐसी प्रतीति होती है, वह सम्यग्दर्शन है।

आत्मा का अस्तित्व कैसा है ?—कि पर से भिन्न और अपने समस्त शुद्ध गुण-पर्यायों से व्याप्त है। गुण-पर्यायों में व्याप्त होने पर भी शुद्धनय से आत्मा की एकता नहीं है; उसमें कोई भेद नहीं है, विकल्प नहीं है, अशुद्धता नहीं है।

भाई, तुझमें जो भरा है, उसे तू देख! जो तुझमें नहीं है, उसे तू देखता है और उसका अस्तित्व अपने में मानता है, वह तो भ्रम है। अपने अस्तित्व को पर से भिन्न और अपने गुण-

पर्यायों में एकाकाररूप से देखना, सो सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शनपर्याय अंतर्मुख होकर पूर्ण शुद्ध आत्मा को अंगीकार करती है। सम्पूर्ण द्रव्यप्रमाण सम्यग्दर्शन की पर्याय अभेद परिणमित हो गई है। सम्यग्दर्शन पर्याय ने सम्पूर्ण आत्मा को ग्रहण किया है; वह पर्याय अखण्ड द्रव्य में अभेद होकर परिणमित हो गई है। ऐसा एक शुद्ध आत्मा ही हमें अनुभव में प्राप्त हो। नव तत्त्वों में यह एक ही भूतार्थ है, वैसे तो नवतत्त्वों के विकल्प, वे सम्यग्दर्शन से बाह्य हैं। सम्यग्दर्शन का अंतरतत्त्व एकरूप शुद्धद्रव्य ही है। शुद्धनय द्वारा अनुभूति में से गुण-पर्याय के भेद निकालकर आत्मा को शुद्ध एकत्व में स्थापित किया है अर्थात् अनुभव में लिया है। उस अनुभव में निर्मलपर्याय का भी भेद नहीं है।

धर्म की पहली सीढ़ी जो सम्यग्दर्शन, उसमें कैसा आत्मा दिखायी देता है, उसकी यह बात है। निर्मल गुण-पर्यायों के जो भेद हैं, उनमें अभेदरूप से आत्मा विद्यमान है, इसलिये शुद्धनय से वह एक है। ऐसा शुद्ध एकत्वस्वरूप आत्मा सम्यग्दर्शन में दिखायी देता है।

आत्मा के अस्तित्व में पर का तो अस्तित्व ही नहीं है; उसमें तो अनंत गुण-पर्यायों का अस्तित्व है। ऐसे आत्मा को पर से भिन्नरूप और अपने ज्ञानादि स्वभाव से अभिन्नरूप देखना—अनुभव करना वह सम्यग्दर्शन का कार्य है।

आत्मा में पर का अस्तित्व नहीं है, इसलिये पर के कार्य को आत्मा नहीं करता; और पर में आत्मा का अस्तित्व नहीं है, इसलिये पर के कारण आत्मा का कोई कार्य नहीं होता—दोनों द्रव्य भिन्न-भिन्न अपने-अपने कार्य को ही करते हैं।—इसप्रकार पर से तो आत्मा की बिल्कुल भिन्नता का निर्णय हुआ।

अब, आत्मा में अपने जो गुण-पर्याय हैं, उन्हें भी भिन्न-भिन्न अनेक भेदरूप से देखता रहे तो वहाँ तक भी विकल्प ही है और उसमें भूतार्थ आत्मा अर्थात् सच्चा आत्मा दिखायी नहीं देता... यानी आत्मा के शुद्धस्वरूप का सम्यग्दर्शन नहीं होता—आत्मा सच्चे स्वरूप में दिखायी नहीं देता। आत्मा को सर्व गुण-पर्यायों में अभेद एकस्वरूप देखने से ही आत्मा का सच्चा स्वरूप दिखाायी देता है अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है। इसका नाम एकत्व-विभक्त.....

मात्र अनेक भंग-भेदरूप से ही आत्मा को देखता रहे और एकस्वरूप अभेद आत्मा को न देखे, तब तक विकल्प टूटकर शुद्ध आत्मा अनुभव में नहीं आता। भंग-भेद के अनुभव से तो विकल्प की उत्पत्ति है और इतने ही स्वरूप से आत्मा को देखे-अनुभव करे तो सम्यक्त्व नहीं होता। सम्यक्त्व तो तब होता है कि जब स्वभाव से अभेद आत्मा को अनुभव में ले। अंतर्मुख

होकर ऐसे एकरूप अभेद आत्मा का अनुभव करने से वह अनुभव करनेवाली पर्याय भी स्वभाव में लीन हो जाती है; वहाँ अनुभव में गुण-पर्याय का कोई भेद दिखायी नहीं देता; इसलिये सम्यग्दर्शन को 'आत्मा' ही कहा है। सम्यग्दर्शन में एक-अभेद शुद्ध आत्मा ही दृष्टिगोचर होता है... इसका नाम सम्यग्दर्शन है।

❋ ऐसे एकरूप आत्मा के दर्शन में सम्यक् श्रद्धा होती है।

❋ ऐसे एकरूप आत्मा के ज्ञान में सम्यक् ज्ञान होता है।

❋ ऐसे एकरूप आत्मा को देखने से स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होता है।

❋ ऐसे एकरूप आत्मा को देखने से शांति का वेदन होता है।

— इसप्रकार भूतार्थरूप जो एकरूप आत्मा उसके आश्रय से मोक्षमार्ग है।

परन्तु—

❋ अनेक भेदरूप आत्मा को देखने से सम्यक्श्रद्धा नहीं होती।

❋ मात्र भेदों को ही जानने से सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

❋ भेद का आश्रय करके अटकने से स्वरूपाचरण नहीं होता।

❋ अनेक भेदों पर दृष्टि करके अटकने से अशान्ति होती है।

❋ और भेद का आश्रय वह मोक्षमार्ग नहीं किंतु संसार का कारण है।

—ऐसा बतलाकर अभेदरूप भूतार्थस्वभाव के आश्रय का उपदेश श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार में दिया है। जैनमार्ग में समस्त वीतरागी संतों ने ऐसा उपदेश दिया है।—इसीप्रकार की अभेदरत्नत्रय की आराधना का उपदेश उपाध्याय देते हैं—ऐसा 'परमात्मप्रकाश' में कहा है।

दूसरा इधर-उधर का ज्ञान भले ही न हो, परंतु ऐसा आत्मा जिसने दृष्टि में और अनुभव में लिया, वह जीव भवसमुद्र से पार हो जायेगा। ऐसे आत्मा को लक्ष में लिये बिना भव का अन्त नहीं आ सकता। भाई, अंतर्मुहूर्त में समझी जा सके ऐसी यह बात है। बात तो बहुत उच्च प्रकार की है, परंतु आत्मा में इसे समझने की शक्ति है। स्वयं अपना मूल्य नहीं जाना और पर का मूल्यांकन किया, इसलिये परसन्मुख देख-देखकर संसार में भटका... चैतन्यरत्न यदि स्वयं अपना मूल्य समझ ले तो स्वसन्मुख होकर मोक्षदशा प्राप्त कर ले।

भगवान सर्वज्ञदेव ने जो कहा, वही कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है और वही बात यहाँ कही जा रही है। इसे समझने से ही सम्यग्दर्शन होगा और मोक्षमार्ग हाथ में आयेगा। ●

अनुभव का उपदेश

माता की भाँति वात्सल्य से हित की सीख देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! ऐसा अवसर प्राप्त करके तू शरीरादि से भिन्न अपने चैतन्यतत्त्व को देख। जीवन में यही करने योग्य है। अरे, तूने दुनिया को देखा, परंतु देखनेवाला जो स्वयं है, उसे नहीं देखा। पर की प्रसिद्धि की, परंतु स्वयं अपनी प्रसिद्धि नहीं की। अहा, चैतन्यतत्त्व ऐसे आनंद से भरपूर है कि जिसके स्मरणमात्र से शांति प्राप्त हो, तो उसके सीधे अनुभव के आनंद की तो क्या बात! स्वयं अपने को जानने से परम आनंद होता है। अरे, आत्मा के अनुभव का ऐसा सरस योग और ऐसा उत्तम उपदेश... उसे पाकर अब उत्कृष्ट प्रयत्न द्वारा आत्मा को अनुभव में ले... एक बार आत्मा की मस्ती चढ़ाकर उसकी प्राप्ति का उद्यम कर!

[समयसार कलश २३ के प्रवचन से]

भाई, आनंदसहित आत्मा का अनुभव हो और मोह टूट जाये—ऐसी बात संत तुझे सुना रहे हैं।

हे भाई! यह चैतन्यतत्त्व शरीर से भिन्न एवं आनंद से परिपूर्ण कैसा है, उसका अनुभव करने के लिये तू कुतूहल कर... जगत के बाह्य पदार्थों में तुझे कुतूहल होता है परंतु उन सबका ज्ञाता तू स्वयं कौन है? उसे जानने की तो जिज्ञासा कर। अनंत काल से नहीं जाना हुआ ऐसा यह गुप्त चैतन्यतत्त्व, उसे जानने के लिये अंतर में दृष्टि डाल। अहा, अंतर में आनंद से विलसित चैतन्यतत्त्व को देखते ही परद्रव्यों के ऊपर से तेरा मोह छूट जायेगा। परद्रव्य मेरा—ऐसी तेरी मोहबुद्धि छूट जायेगी और तुझे अपना चैतन्यतत्त्व परद्रव्यों से भिन्न विलसित-शोभित दिखायी देगा। भगवान ने जैसा उपयोगस्वरूप आत्मा देखा है, वैसा ही आत्मा तेरे अंतर में विलसित है।

'मरकर भी तू ऐसे तत्त्व को देख'—यानी ऐसा उग्र प्रयत्न कर कि मृत्यु जितनी प्रतिकूलता उपस्थित होने पर भी शरीर से भिन्न आत्मा को अंतर में देखने की लौ न छूटे। 'मरकर भी...' यानी आत्मा का तो कहीं मरण है नहीं; परंतु शरीर की चिंता छोड़कर उससे

भिन्न आत्मा को जानने का उत्साह जागृत कर! शरीर की जितनी दरकार की, उसकी अपेक्षा अनंतगुनी आत्मा की दरकार करके उसे जान। ऐसा प्रयत्न करेगा तो अवश्य तुझे अंतर में शरीर से भिन्न आत्मा का विलास दिखायी देगा—कि जिसे देखते ही तेरा शरीर के साथ एकता का मोह तुरंत छूट जायेगा। अरे जीव! तू विचार तो कर कि—

'मैं कौन हूँ, कहाँ से हुआ? क्या स्वरूप है मेरा सही?'

क्या यह शरीर मैं हूँ? क्या लक्ष्मी मैं हूँ? क्या यह कुटुम्बादि मैं हूँ?—नहीं; यह सब तो संयोगी पदार्थ हैं, वे तो आते हैं और चले जाते हैं; आत्मा तो नित्य-स्थायी असंयोगी वस्तु है, किसी संयोग में उसका सुख नहीं है। सुखस्वरूप तो आत्मा स्वयं ही है। बाह्य में सुख ढूँढ़ते हुए स्वयं अपने सुखस्वभाव को भूल जाता है। भाई, सुख कहीं दूसरे में से आ सकता है? सुखस्वरूप तो आत्मा स्वयं ही है, स्वयं अपने को जानने से आनंद होता है... परंतु उसके लिये इस दुनिया की दरकार छोड़कर चैतन्यसमुद्र में डुबकी लगा।

अरे, तूने दुनिया को देखा, परंतु देखनेवाला जो स्वयं है, उसे नहीं देखा! पर की प्रसिद्धि की परंतु स्वयं अपनी प्रसिद्धि नहीं की कि—'यह देखनेवाला मैं हूँ।' जाननेवाला-ज्ञाता को जाने बिना आनंद नहीं होता। अहा, चैतन्यतत्त्व ऐसे आनंद से परिपूर्ण है कि जिसके स्मरण मात्र से भी शांति मिले, तो उसके सीधे अनुभव के आनंद की तो बात ही क्या!

तेरा आत्मा अतीन्द्रिय आनंद से भरा हुआ भगवान है, वह मूर्त द्रव्यों से भिन्न है, राग से भिन्न है। तू उन मूर्त द्रव्यों का पड़ौसी हो जा। पड़ौसी अर्थात् पृथक्। चैतन्यप्रकाश की अपेक्षा से राग भी अचेतन है, वह भी चैतन्य के साथ एकमेक नहीं परंतु भिन्न है। शरीर और राग सबको एक ओर रखकर इन सबसे भिन्न अपने चैतन्यतत्त्व को देख। अरे, आत्मा के अनुभव का ऐसा सरस योग और भेदज्ञान का ऐसा उत्तम उपदेश... इन्हें पाकर अब एकबार आत्मा को अनुभव में ले; उत्कृष्ट प्रयत्न करके आत्मा को शरीरादि से भिन्न जान!

चेत चेत नर चेत!

[विकारी संसार से विरक्त होकर चैतन्यानंद का स्वाद ले!]

(पूज्य श्री स्वामीजी का वैराग्य-प्रेरक प्रवचन)

आत्मा ज्ञानस्वभावी है; उस ज्ञानस्वभाव को जाननेवाला ज्ञानी तो ज्ञानभाव को ही करता है; रागादि अन्य भावों को अपने स्वभावरूप से वह नहीं करता। अज्ञानी भी अज्ञानभाव द्वारा अपने शुभ-अशुभभाव का कर्ता होता है परंतु अपने से भिन्न ऐसे परद्रव्य के किसी कार्य का कर्ता नहीं हो सकता। शुभाशुभ रागकार्य का कर्तृत्व, वह अधर्म और वीतरागी ज्ञानभाव का कर्तृत्व वह धर्म... ज्ञानी को चौथे गुणस्थान से ज्ञानभाव का ही कर्तृत्व है और रागादि अन्य भावों का कर्तृत्व छूट गया है।

अरे जीव! शरीर से भिन्न अपने चैतन्य की सँभाल तूने कभी नहीं की। यह शरीर तो रजकणों का पुतला है; इसके रजकण तो रेत की भाँति इधर-उधर बिखर जायेंगे।—

रजकण तेरे उड़ेंगे जैसे उड़ती रेत;
फिर नरभव कहाँ पायेगा? चेत चेत नर चेत!

अरे जीव! तू जागृत हो! आत्मा को जाननेवाले आठ-आठ वर्ष के राजकुमार संसार से विरक्त होकर अपनी माता से कहते हैं कि—हे माता! मुझे आज्ञा दो...

'अलख जगाऊँ जंगल में अकेला!'

वन में जाकर मुनि होकर आत्मा का ध्यान धरूँगा!

माता कहती है—अरे पुत्र! तू अभी छोटा है... अभी तो तेरी उम्र आठ वर्ष की है!

पुत्र कहता है—हे माता! मेरा शरीर छोटा है, परंतु मैं इतना तो जानता हूँ कि यह शरीर तो संयोगी वस्तु है, वह मैं नहीं हूँ; मैं तो अविनाशी चैतन्य हूँ।—ऐसे चैतन्य के आनंद का स्वसंवेदन करके उसकी साधना के लिये मैं जाता हूँ; इसलिये हे माता! तुम मुझे आज्ञा दो! इस संसार में मुझे कहीं चैन नहीं पड़ता; यह राजमहल सूना-सूना लगता है; इस प्रवृत्ति के परिणामों से अब मैं थक गया हूँ; अब तो आनंदस्वरूप में रमणता करने की धुन जागृत हुई है। मुनि बनूँगा और आत्मा को साधकर केवलज्ञान प्राप्त करूँगा। इसलिये आनंदपूर्वक आज्ञा दो।

फिर तो माता भी आनंदपूर्वक आज्ञा देती है कि बेटा! 'जहा सुखं'—तेरे सुख के मार्ग में मैं बाधक नहीं बनूँगी! तुझे सुख हो वैसा कर... कहीं बँधना नहीं... जो तेरा मार्ग है, उसी मार्ग पर हमें भी आना पड़ेगा।

पश्चात् वह राजकुमार मुनि होकर वन में और श्मशान आदि में एकाकी विचरता हुआ आत्मा का ध्यान करता है! मृत्यु होने पर इस शरीर को दूसरे लोग उठाकर श्मशान में ले जाते हैं... उसके बदले मैं स्वयं ही शरीर का ममत्व छोड़कर जीवित श्मशान में जाकर अपने चैतन्य हंस की साधना करूँ... शरीर तो आज है और कल नहीं... ऐसी अनेकों घटनाएँ सामने हो रही हैं। अरे, ऐसे अवसर पर आत्मा को नहीं साधेगा तो हे जीव! कब साधेगा?

यह शरीर तो जड़ है; तेरे अनंत गुण तो तेरे चैतन्यधाम में भरे हैं—

जहाँ चेतन वहाँ अनंतगुण, केवलि भाखे अेम
प्रगट अनुभव अपना, निर्मल करो सप्रेम...
रे चेतन प्रभु! प्रभुता तेरी चैतन्यधाम में....

भगवान केवली प्रभु ने दिव्यध्वनि में ऐसा कहा है कि—हे जीव! तेरे चैतन्यधाम में तेरे अनंत गुण भरे हैं, उनका निर्मल प्रेम तू प्रगट कर... अपने परिणामों को अंतर्मुख करके अनंत गुण के धाम को अपने में देख। अरे, जिस चैतन्य की कथा सुनने से भी हर्ष उल्लसित होता है, उसके साक्षात् अनुभव की क्या बात!!

भाई, कुछ करने जैसा हो तो ऐसे आत्मा के अनुभव का कार्य ही करने जैसा है; उसकी ही रुचि और उत्साह करने जैसा है; इसके सिवा अन्य बाह्य कार्यों की या इन्द्रियों संबंधी विकास की रुचि करने योग्य नहीं है। जिसमें चैतन्य के उपयोग की जागृति नष्ट होती है, वह भावमरण है। एक शरीर छोड़कर दूसरे में जाते समय बीच में जीव को उपयोग की जागृति नहीं रहती, इसलिये सचमुच उसे मरण कहा है। मार्ग में जीव के उपयोग की जो संख्या गिनायी है, वह तो उसप्रकार के विकास की शक्ति है, इस अपेक्षा से कहा है; परंतु वहाँ लब्धरूप विकास है, उपयोगरूप नहीं है। वहाँ उपयोग का अभाव हो जाता है, इसलिये मरण कहा है।

शरीर की क्रिया तो जड़ है। मृत्युकाल में बोलना चाहे परंतु बोल नहीं सकता... वाणी की क्रिया तो कहाँ जीव के आधीन है! तेरा उपयोग तेरे आधीन है, परंतु जड़ की-इन्द्रियों की क्रिया तेरे आधीन नहीं है।

अरे भाई, तू तो वीर का पुत्र! वीर-पथ का पथिक...! तू परभाव के या इन्द्रियों के स्वामित्व में अटक जाये, वह कहीं शोभा देता है? अरे, वह तो शोभा नहीं देता और अपने ज्ञान को तू मात्र इन्द्रिय-विषयों में ही लगा दे, वह भी तुझे शोभा नहीं देता। अपने आनंदस्वरूप आत्मा के अनुभव में ज्ञान को लगा... उसी में तेरी शोभा है। जिसमें ज्ञान है और जिसे जानने से सुख मिलता है-वही तू है। परवस्तु में-इन्द्रियों आदि में ज्ञान भी नहीं है, सुख भी नहीं है और उन्हें जानने से तुझे भी सुख नहीं है। ज्ञाता ऐसे अपने को जान, उसी में तुझे सुख है। अरे, ऐसे आत्मा को भूलकर अज्ञानी परभाव के कर्तृत्व से दुःख में भटक रहा है!

आत्मा का स्वाद तो अचलित विज्ञानघनरूप है; पुद्गल का स्वाद (खट्टा-मीठा) तो जड़ है और राग के स्वाद में आकुलता है; वह तो कषायला—कषायवाला है। उन दोनों स्वाद से भिन्न परम शांतरसरूप विज्ञानघन स्वाद, वह तेरा स्वाद है। स्वानुभव में ज्ञानी को ऐसे चैतन्यस्वाद का अनुभव हुआ है।

जिसे अपने चैतन्य के शांतरस की खबर नहीं है, उसका स्वाद जिसने नहीं चखा, वह जीव अज्ञान से शुभाशुभभावों के स्वाद को अपना-आत्मा का स्वाद मानता है, और इसलिये उन विकारी भावों का वह कर्ता होता है। अरे, अपने चैतन्यस्रोत के एकरूप प्रवाह को तू इन्द्रियरूपी पुल द्वारा रोककर खण्ड-खण्ड कर डालता है और राग के साथ एकमेक करके भिन्न चैतन्यस्वभाव को भूल रहा है। भाई, तेरे स्वाद में तो आनंद होगा या आकुलता होगी? चैतन्य-खेत में आनंद का अमृत पैदा होगा या विकार का विष? उन विषैले परिणामों में अमृतस्वरूप आत्मा कैसे व्याप्त होगा? आनंदस्वरूप आत्मा का व्याप्य (निवासस्थान) विषरूप कैसे हो सकता है? भाई, तेरा व्याप्य अर्थात् तेरा निवासस्थान तो चैतन्यपरिणाम में है; तू आनंद से भरपूर विज्ञानमय निर्मलभाव में रहनेवाला (व्यापक) है, वही तेरा निवासस्थान है। ऐसे धाम में आत्मा को रखने में ही उसकी रक्षा है और विकार द्वारा उसकी हिंसा होती है। भाई, विकार के कर्तृत्व द्वारा तू अपने आत्मा का घात न कर... अपने चैतन्यस्वाद को खंडित न कर। विकार से भिन्न चैतन्यस्वाद को अखंड रखकर उसे अनुभव में ले।

सर्वज्ञ का देखा हुआ परमार्थ जीव कैसा है ?

[विकार को आत्मस्वभाव माननेवाला सर्वज्ञ को नहीं जानता]

अहो, आचार्य भगवान ने भेदज्ञान की कोई अपूर्व बात समझायी है। सर्वज्ञ की साक्षी से और अपने स्वानुभव की नि:शंकता से चेतन की और राग की अत्यंत भिन्नता युक्ति द्वारा समझायी है। अरे, एक बार 'याहोम' करके चैतन्यस्वभाव में छलाँग लगा... सर्वथा रागरहित चैतन्यस्वभाव, क्या वह राग की ओर देखने से अनुभव में आता होगा ? छोड़ उसकी दृष्टि, तोड़ अपना मान और कूद पड़ चैतन्य-समुद्र में !

[समयसार, गाथा ४४ पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन से]

***

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह अचेतनस्वरूप नहीं है, रागादिस्वरूप नहीं है—ऐसे आत्मा का जिसने अनुभव किया, उसे मोक्षमार्ग हुआ।

जो जीव ऐसे आत्मा का अनुभव नहीं करते और मात्र शुभराग में धर्म मानकर अटक गये हैं, वे जीव मोक्ष को साधने में नामर्द हैं, पुरुषार्थहीन हैं; मोह को मारने की शक्ति उनमें नहीं है।

भगवान सर्वज्ञदेव ने आत्मा को तो परम चैतन्यमय कहा है और समस्त रागादि अन्य भावों को चैतन्य से भिन्न अर्थात् अचेतन कहा है तथा अचेतन होने से उन्हें पुद्गलमय कहा है, परंतु जीव के स्वभावमय वे नहीं हैं। धर्मी जीव ऐसे आत्मा को जानते हैं; इसलिये उन्हीं को सर्वज्ञ की सच्ची श्रद्धा है; जो जीव ऐसे आत्मा को नहीं जानता, वह सर्वज्ञ को भी नहीं जानता।

भगवान सर्वज्ञदेव समस्त लोक के प्रकाशक हैं, विश्व को साक्षात् जाननेवाले हैं और

वीतराग हैं। ऐसे निर्दोष सर्वज्ञ भगवान ने तो इस ज्ञानसूर्य को चैतन्य-किरणोंवाला ही देखा है, राग का अंधकार उसमें नहीं है। आत्मा के स्वानुभव में वे भाव प्रविष्ट नहीं होते। वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिये उसे पुद्गल का स्वभाव कहा है। आत्मा के स्वभाव में तन्मय होनेवाले जीव को उन विकारी भावों की अपने में अनुभूति नहीं होती, परंतु स्वभाव से वे भिन्न ही रहते हैं। जीव के परमार्थ स्वभाव को ऐसा धर्मी जीव जानता है। तथापि जो रागादि कलुष भावों को आत्मा मानते हैं, वे परमार्थ-जीव को नहीं जानते। व्यवहार-जीव, वह सच्चा जीव नहीं है; परमार्थ-जीव अर्थात् शुद्ध चेतनस्वभावी जीव ही सच्चा जीव है और उसके अनुभव द्वारा सम्यग्दर्शनादि होते हैं।

चैतन्यस्वभाव से विरुद्ध ऐसे जो अन्य रागादिभाव, उन्हें भगवान सर्वज्ञदेव ने जीवस्वभावरूप में नहीं देखा है, सर्वज्ञ के आगम में उन्हें जीवस्वभाव नहीं कहा है और ज्ञानी के अनुभव में वे जीवरूप से नहीं आते। उन रागादि परभावों को सर्वज्ञदेव ने जीवस्वभाव से भिन्न जाना है, सर्वज्ञ के आगम में उन्हें जीवस्वभाव से भिन्न कहा है और ज्ञानी को जीवस्वभाव का जो अनुभव है, उससे भी वे भिन्न ही हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि—चेतन से अन्य ऐसे रागादिभावों को जो जीवस्वभाव कहते हैं, वे सत्यार्थवादी नहीं हैं, वे सच्चास्वरूप नहीं जानते। तीन लोक के ज्ञाता परम सत्यवादी सर्वज्ञदेव ने जीव को चेतनस्वभावमय कहा है। जो चेतनभाव और रागभाव को एकमेक कहते हैं, वे वचन सत्य नहीं... वे सर्वज्ञ के वचन नहीं हो सकते।

देखो, यह सर्वज्ञ के वचनों को पहिचानने की रीति! जीव के चेतनभाव को और रागादि अचेतन भाव को—दोनों को भिन्न-भिन्न बतलाये, वह सर्वज्ञ का वचन है और जो ऐसा जाने, वह सर्वज्ञ को जानता है परंतु रागादि अन्य भावों के अंशमात्र को जो चेतनभाव में मिलाये, अथवा उन रागादिभावों से चेतन को अंशमात्र लाभ माने, उसे सर्वज्ञ के वचन की भी खबर नहीं है और सर्वज्ञ को भी वह नहीं जानता।

मति-श्रुतज्ञान अंतर्मुख होकर आत्मा का जो स्वसंवेदन करते हैं, उसमें राग की अपेक्षा नहीं है; स्वसंवेदनज्ञान द्वारा स्वयं अपने को प्रत्यक्ष हो—ऐसी आत्मा की शक्ति है। स्वयं अपने को स्पष्ट प्रकाशित करे, ऐसी प्रकाशशक्ति आत्मा में है, इसलिये वह स्वयं अपने को स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष होता है।—इसप्रकार जिसने स्वानुभव द्वारा चेतनभाव और रागभाव को भिन्न जाना,

चैतन्यस्वाद को अपना माना और राग के आकुल स्वाद को अपने से भिन्न जाना उसने ज्ञानी को पहिचाना और सर्वज्ञ के मार्ग को जान लिया।

विकल्प तो चेतन नहीं है; अचेतन है; उसके द्वारा चैतन्य का अनुभव कैसे होगा?—नहीं हो सकता। परंतु उससे भिन्नता द्वारा, ज्ञानभाव द्वारा ही चेतन का अनुभव होता है। ज्ञान जब राग से पृथक् होकर अंतरोन्मुख होता है, तब आत्मा का प्रत्यक्ष संवेदन एवं निर्विकल्प आनंद का अनुभव होता है। इसके सिवा अन्य लाख उपायों से भी आत्मा अनुभव में नहीं आ सकता।

कोयला और उसकी कालिमा भले एक हों, परंतु कोयला और सोना कहीं एक नहीं हैं; उसीप्रकार रागादि विकल्प और अचेतन में भले एकता हो, परंतु रागादिरूपी कोयले में और चैतन्य-सुवर्ण में कहीं एकता नहीं है; वे तो पृथक् ही हैं।

अहो, सर्वज्ञ परमेश्वर के घर की यह बात जड़-चेतन की अत्यंत भिन्नता बतलाती है; राग को भी चेतन से अत्यंत भिन्न करके शुद्धचेतनस्वरूप परमार्थ जीव बतलाती है। अरे, एकबार अपने ऐसे आत्मा को देख तो सही! तेरे चेतन की अपार महत्ता है। तेरी महत्ता के निकट रागादि तो बिल्कुल तुच्छ हैं। तू सर्वज्ञ समान वैभव से भरपूर है; तेरे चैतन्य-पेट में सर्वज्ञता भरी है, उसके वेदन से तुझे आनंद प्रगट होगा, प्रभुता प्रगट होगी।

अहो, आचार्य भगवान ने भेदज्ञान की अपूर्व बात समझायी है! सर्वज्ञ की साक्षी से और अपने स्वानुभव की निःशंकता से चेतन की और राग की अत्यंत भिन्नता युक्ति द्वारा समझायी है। अरे, एक बार 'याहोम' करके चैतन्यस्वभाव में छलाँग लगा... सर्वथा रागरहित चैतन्यस्वभाव, वह कहीं राग की ओर देखने से अनुभव में आता होगा? छोड़ उसकी दृष्टि, तोड़ अपना मान और कूद पड़ चैतन्य-समुद्र में!

भगवान आत्मा रागादि से रहित चेतनस्वभावी है; तथापि जो राग द्वारा उसकी प्राप्ति होना मानते हैं, वे राग को ही आत्मा मानते हैं; रागरहित और ज्ञानरूप अपना अस्तित्व उन्हें भासित नहीं होता, इसलिये वे ज्ञानरूप नहीं होते परंतु अज्ञानी रहते हैं। देहादि एवं रागादिरूप ही अपना अनुभव करना, वह अज्ञानी का लक्षण है।

रे! अनित्य-अशरण संसार!

पिछले महीने अगस्त की छठी तारीख को करोड़ों गुजरातियों एवं भारतीयों के हृदय को हिला देनेवाली प्रलयकारी बाढ़ की घटना गुजरात में सूरत, भरूच और सौराष्ट्र में भी हो गई। जिसमें हजारों पशु और मनुष्य बह गये। हजारों मकान, और बड़े-बड़े पुल नष्ट हो गये; सड़कें टूट गयीं और मीलों रेलवे लाईन बह गयी! पानी का प्रवाह जोरों से जगत को कहता गया कि यह संसार अनित्य है... यह जीवन क्षणभंगुर है, अतः हे जीवो! तुम चेतो, चेतो, चेतो...!

❋ एक गर्भवती महिला जल-प्रवाह से बचने के लिये एक वृक्ष पर चढ़ गयी। क्या मालूम कितने काल पश्चात् महादुर्लभ मनुष्य-पर्याय को प्राप्त कोई अभागा जीव उस माँ के उदर में आया होगा? वृक्ष पर ही प्रसव हुआ और वह बालक (पुत्र था या पुत्री वह तो उस बेचारी माँ को भी पता नहीं होगा) नीचे पानी में गिरकर अदृश्य हो गया!

❋ एक जैन परिवार के तीन व्यक्ति पानी के प्रवाह से बचने के लिये अपने घर में शरण समझकर घुस गये, किन्तु आयुकर्म को यह मंजूर नहीं था; बाढ़ का पानी उनके घर में घुस गया और वे सब बह गये। पानी कहता है—इस संसार की अनित्यता को तुम देखो! बाह्य-पदार्थ सब के सब अध्रुव हैं, अशरण हैं, शरण-रक्षण देने में असमर्थ हैं। सच्ची शरणरूप तो अपनी नित्यचेतना-चैतन्यवस्तु है, उसी की शोध-अनुभव करो!

❋ एक जगह बाढ़ में फँसे हुए तीन प्राणी बंदर, मनुष्य और सर्प; तीनों ने एक वृक्ष का आश्रय लिया... मानों परस्पर मित्र हों। इसप्रकार एक-दूसरे के समीप बैठे रहे; किसी ने किसी का विरोध न किया। अरे, भय के वश इसप्रकार जीव अहिंसक बन जाते हैं, तो फिर जहाँ परम वीतरागता ही है, सदा अभय है—ऐसे तीर्थंकरादिक के समीप सिंह, हिरन, मयूर, सर्प आदि शांत-अहिंसक बन जायें उसमें क्या आश्चर्य!

❋ सौराष्ट्र में एक जगह २२ जवान गड़रिये नदी के समीप अपने सैकड़ों पशुओं की रक्षा के लिये रहते थे। बाढ़ से बचने के लिये वे सब पास की टेकरी पर रक्षण-शरण मानकर

जा पहुँचे। परंतु वहाँ से भी प्रलय-बाढ़ उन्हें बहा ले गयी। संसार की क्षणभंगुरता के सामने किसकी चलती है ? हाँ, एक ही उपाय है और वह है वीतराग विज्ञानता। बस, वही जीव को शरणरूप होकर अल्प काल में ही सर्व बाधाओं से रहित, शाश्वत सिद्धपद में सदा के लिये विराजमान करती है, और जन्म-जरा-मृत्यु के दु:खों से जीव का रक्षण करती है।

महा विनाशकारी बाढ़ की घटनाएँ तो दुनिया थोड़े समय पश्चात् भूल जायेगी, किंतु संसार की अनित्यता और अशरणता तो तुझे छोड़नेवाली नहीं है। लोग जिसको दुर्घटना-अकस्मात मानते हैं, वे जगत को उसकी अनित्यता, अशरणता स्थूलरूप से दिखलाते रहते हैं ताकि जगत यह भूल न जाये कि यह सब क्षणभंगुर है और कोई मुझे शरणरूप नहीं है। रे जीव! इसप्रकार जगत और शरीर का स्वभाव और अशरणता को पहचानकर संयोग और संयोगीभावों से सदा भिन्न ऐसे नित्य-चिदानंदस्वरूप की ही शरण ले।

तारीख १९-८-६८ को भावनगर जिले के कलक्टर महोदय एवं अन्य अग्रणी व्यक्ति सोनगढ़ पूज्य स्वामीजी के प्रवचन में आये थे। प्रवचन समाप्त होने पर उन्होंने बाढ़ पीड़ितों के लिये सहायता की अपील की और देखते ही देखते १० मिनिट में करीब दस हजार रुपये एकत्रित हो गये। इन बाढ़ पीड़ित पशुओं और मनुष्यों के प्रति किसे सहानुभूति न होगी!

(ब्रह्मचारी हरिलाल जैन)

संसार में चाहे जैसे क्लेश या प्रतिकूलता के प्रसंग आयें, परंतु ज्ञानी को जहाँ चैतन्य का स्फुरणा हुआ, वहाँ वे सर्व क्लेश दूर भाग जाते हैं। चाहे जैसी विषम परिस्थिति में भी उसके श्रद्धा-ज्ञान घिर नहीं जाते। जहाँ चिदानंद-हंस का स्मरण किया वहाँ दुनिया के सब क्लेश मिट जाते हैं। यह संसार के विष को उतार देनेवाली जड़ीबूटी है। इसे सूँघते ही क्षणभर में संसार की थकान उतर जाती है।

तत्त्वचर्चा

[लेखांक : १४]

तत्त्वरसिक जिज्ञासुओं को प्रिय 'दस प्रश्न और उनके उत्तर' का यह विभाग पूज्य स्वामीजी के समक्ष हुई तत्त्वचर्चा से तथा शास्त्रों पर से तैयार किया जाता है।

—सम्पादक

(१३१) **प्रश्न**—मोक्षमहल में जाने का सीधा मार्ग कौन-सा है ?

उत्तर—आत्मा के आनंद का निर्विकल्प अनुभव वह मोक्ष का सीधा मार्ग है।

(१३२) **प्रश्न**—मुनीन्द्रों के चित्तकमल में किसका वास है ?

उत्तर—अत्यन्त सौख्यरूप ऐसा परमात्मतत्त्व मुनीन्द्रों के चित्तकमल में निवास करता है।

(१३३) **प्रश्न**—ज्ञानी के चित्तकमल में किसका निवास है ?

उत्तर—ज्ञानी के ज्ञानकमल में भी वह परमात्मतत्त्व ही बसता है। मछली या मेंढ़क अंतरात्मा हों तो उनके ज्ञानकमल में भी यह परमात्मतत्त्व ही निवास करता है।

(१३४) **प्रश्न**—आत्मा में क्या भरा है ?

उत्तर—अतीन्द्रिय आनंद के समुद्र आत्मा में भरे हैं।

(१३५) **प्रश्न**—जगत में सर्वोत्कृष्ट कला कौन-सी ?

उत्तर—जिसके द्वारा परमात्मतत्त्व ज्ञात हो—ऐसी अध्यात्म-कला ही सर्वोत्कृष्ट कला है।

(१३६) **प्रश्न**—मोक्ष की परीक्षा में उत्तीर्ण कौन ? अनुत्तीर्ण कौन ?

उत्तर—जिसके द्वारा परमात्मतत्त्व ज्ञात हो, ऐसी भेदज्ञान विद्या जिसे आती हो, वह उत्तीर्ण, बाकी सब अनुत्तीर्ण।

(१३७) **प्रश्न**—जीव को किस कार्य की अभिलाषा करनी चाहिये ?

उत्तर—अपने स्वरूप को साधने की अभिलाषा करनी चाहिये, बाह्य भावों की नहीं।

(१३८) **प्रश्न**—अज्ञानी के पास पुराने से पुराना कर्म कितने काल पहले का होता है ?

उत्तर—अधिक से अधिक सात चौबीसी जितना (७० कोड़ाकोड़ी सागर) पुराना कर्म हो सकता है... इससे पुराना कर्म किसी जीव के पास नहीं होता। यह जीव आत्मबल द्वारा उन सब कर्मों को अल्प काल में तोड़ दे, ऐसी इसमें शक्ति है।

(१३९) **प्रश्न**—आत्मा के निकट कब पहुँचा जाता है ?

उत्तर—समस्त विकल्पों से निवृत्ति हो और निर्विकल्प होकर अंतर में उतरे, तब आत्मा के निकट जा सकता है; विकल्पों में रुका रहे तो आत्मा के पास नहीं पहुँचा जाता।

(१४०) **प्रश्न**—जीव को विरल क्या-क्या है ?

उत्तर—शुद्धात्मतत्त्व के उपदेश का श्रवण, उसका प्रेम, उसकी लगन और अनुभव जीव को विरल हैं। बड़े भाग्य से सच्चे पुरुषार्थ से ही यह सब प्राप्त होते हैं।

❀ आपत्तिकाल में भी धर्म की दृढ़ता छोड़ना नहीं।

❀ समस्त संसार मृत्यु आदि के भय से अशरण है, उसमें शरण के हेतु की कल्पना करना, वह मृगजल की भाँति है।

❀ जीवन छोटा है, जंजाल बड़ी; इसलिये जंजाल छोटी कर तो जीवन सुखरूप बड़ा लगेगा।

(—श्रीमद् राजचंद्र)

भेदज्ञान ही मोक्ष का उपाय है

(समयसार : कर्ताकर्म अधिकार प्रारंभ)

[सुरेन्द्रनगर-वढवाण-जोरावरनगर में हुए पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों से]

* वीर सं. २४९४ वैशाख कृष्णा ३ से १३ *

आत्मा शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप वस्तु है। सर्वज्ञ परमात्मा हुए, वे कहाँ से हुए? —आत्मा में ही पूर्ण ज्ञानस्वभाव है, उसकी प्रतीति करके उसमें लीनता द्वारा आत्मा स्वयं सर्वज्ञ परमात्मा होता है। ऐसे सर्वज्ञ अनादिकाल से होते आ रहे हैं। विदेहक्षेत्र में वर्तमान में सीमंधर परमात्मा आदि सर्वज्ञ अरहंत भगवान विराजमान हैं। उनकी दिव्यध्वनि झेलकर, साक्षात् सुनकर और अनुभव करके श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस समयसार की रचना की है। इसमें कर्ताकर्म अधिकार द्वारा अलौकिक भेदज्ञान कराया है।

अपना स्वरूप भूलकर जीव ज्ञान से विरुद्ध ऐसे शुभाशुभ परभावों के साथ तथा देहादि जड़ के साथ कर्ताकर्मपना मानता है। मैं कर्ता और राग मेरा कर्म, मैं कर्ता और देह की क्रिया मेरा कार्य—ऐसा अज्ञान से मानकर जीव संसार में भटक रहा है। मैं चिदानंदस्वरूप हूँ, ज्ञान ही मेरा कार्य है और रागादि परभाव मुझसे भिन्न हैं—इसप्रकार दोनों का भेदज्ञान करके रागादि के साथ कर्ताकर्मपने की मिथ्याबुद्धि का जिन्होंने नाश किया और रागरहित ज्ञानभावरूप हुए, तथा कर्म का नाश करके मोक्षपद प्राप्त किया, ऐसे सिद्धालय में विराजमान सिद्ध भगवंतों को मंगलरूप से स्मरण करके नमस्कार करते हें।—किसलिये?—कि उनकी भाँति अपने आत्मा में से भी परभावों के साथ कर्ताकर्मपने की बुद्धिरूप जो मिथ्यामद, उसका नाश करने के लिये। देखो, यह सिद्धपद का उपाय! ज्ञान और राग की एकताबुद्धि वह अनंतानुबंधी मद है और ज्ञान तथा राग के भेदज्ञान द्वारा उसका नाश होकर सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते हैं। वह मोक्ष का मार्ग है, वह धर्म है।

अनादि से जो अज्ञानप्रवृत्ति है, वह भेदज्ञान द्वारा ही मिटती है, दूसरा कोई उसका उपाय नहीं है। शुभराग की क्रिया करते-करते अज्ञान मिटे, ऐसा नहीं होता। राग की क्रिया, वह आत्मा के ज्ञान के लिये व्यर्थ है। राग को करूँ—ऐसी कर्तृत्वबुद्धि में तो आकुलता है और ज्ञान

तो शांत है-निराकुल है। दोनों की जाति ही भिन्न है। राग के कर्तृत्व में अटकने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है, ज्ञान का स्वभाव तो लोकालोक को जानने का है। जो राग के कर्तृत्व में रुक जाता है, वह ज्ञान लोकालोक को नहीं जान सकता। इसप्रकार राग तो ज्ञान से विरुद्धभाव है।

राग के कर्तृत्वरूप जो करोति-क्रिया, वह अज्ञानी की क्रिया है, ज्ञान से विरुद्ध है, इसलिये मोक्षमार्ग में उस क्रिया का निषेध है। जहाँ राग के कर्तृत्वरूप करोति-क्रिया है, वहाँ मोक्षमार्ग नहीं होता। शुभराग करके मैंने कुछ धर्म किया—ऐसा मानकर अज्ञानी उसमें रुक जाता है और ज्ञानस्वभाव से विमुख हो जाता है, वह जीव अज्ञानबुद्धि के कारण चार गति में जन्म धारण कर-करके दुःखी होता है।

ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप है, परंतु रागादि वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; तथापि ज्ञान और राग के अंतर को अज्ञानी नहीं जानता; इसलिये ज्ञान और रागादि सब मानों एकमेक हों—इसप्रकार दोनों की अत्यंत भिन्नता है। ज्ञान में रागादि ज्ञात हों, वहाँ अज्ञानी मैं-ज्ञान कर्ता और रागादि मेरा कर्म; इसप्रकार राग की क्रियारूप से परिणमित होता है, उसका नाम अज्ञानमय प्रवृत्ति है और वही बंध का कारण है। जब तक अज्ञानमय प्रवृत्ति है, तब तक जीव संसार में भटकता है। राग से भिन्न मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानक्रिया में रागक्रिया नहीं है, और रागक्रिया में ज्ञानक्रिया नहीं है—ऐसी अत्यंत भिन्नता जानकर जीव जब ज्ञानमात्रभावरूप परिणमित होता है, तब राग के अंश को भी वह अपने में नहीं मिलाता, इसलिये उसे कर्मबंधन भी नहीं होता और वह जीव कर्मों से छूटता है। इसप्रकार भेदज्ञान ही मोक्ष का उपाय है।

देखो भाई, जन्म-मरण से छूटना हो तो यह बात समझना ही होगी। आत्मा का अपना स्वरूप क्या है, उसे समझे बिना किसी प्रकार दुःख से छुटकारा नहीं हो सकता।

आत्मा शरीर से भिन्न शाश्वत् तत्त्व है; वह संयोग से भिन्न है; वह कभी उत्पन्न नहीं हुआ है और न उसका कभी नाश होता है, वह आत्मा ज्ञानस्वभाव वस्तु है; वह जड़-शरीररूप नहीं है और रागरूप भी नहीं है। पुण्य-पाप से भिन्न और आनंद के साथ एकरूप ऐसा जो अपना आत्मस्वभाव, उसकी बात का जीव ने यथार्थ लक्षपूर्वक कभी श्रवण नहीं किया। अपने स्वरूप को भूलकर अनंत काल से जीव चार गतियों में भ्रमण कर रहा है। देवगति के अवतार भी अनंत बार किये और नरक में भी अनंत बार गया। भले ही उसे उनकी खबर नहीं है.. जैसे माता के पेट में था और छह महीने का बालक था, उस समय की याद जीव को नहीं है, परंतु

वह स्थिति कहीं मिट नहीं जाती। उसीप्रकार पहले अनंत काल में जीव ने अज्ञानभाव से अनंत भव किये हैं; वर्तमान में उनकी खबर न हो तो उससे क्या ? पूर्वकाल में कहीं रहा तो होगा न ? तो विचार कर कि कहाँ रहा होगा ? यदि मोक्ष में और पूर्णानंद में रहा हो तो पुनः जन्म धारण नहीं करना पड़ता। मोक्ष में तो गया नहीं है, संसार में ही रहा है। संसार अर्थात् चारों गतियाँ, वे आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध हैं। आत्मा के स्वभावरूप भाव से चार गतियाँ नहीं मिलती; चारों गतियाँ, वह तो विभाव का फल है।

आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान और आनंदमय है। जिसप्रकार सूर्य का प्रकाशस्वभाव है, उसीप्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। उस ज्ञान में ज्ञान ही है, उसमें राग नहीं है। ज्ञान का ज्ञानस्वरूप होना, वह आत्मा का स्वभाव है। पुण्य-पाप के भाव, वे मलिन-आस्रव हैं, वे निर्मल ज्ञानरूप नहीं हैं। जिसप्रकार काई वह पानी का निर्मलस्वरूप नहीं है परंतु मैल है, उसीप्रकार रागादि परभाव वह चैतन्य का निर्मलस्वरूप नहीं है, परंतु परभावरूपी मैल है। अज्ञानी उस मैलरूप से ही अपना अनुभव करता है, परंतु महिमावंत भगवान शुद्धचैतन्यतत्त्व का अनुभव नहीं करता। भाई, तेरा यथार्थ स्वरूप तो रागरहित निर्मल है। निर्मल ज्ञानभाव और रागादि परभाव उन दोनों का भेदज्ञान कर। अपने चैतन्यतत्त्व को जाने बिना तेरे भवभ्रमण का अंत नहीं आयेगा।

अनंत काल में दुर्लभ ऐसा वह मनुष्य-भव मुझे प्राप्त हुआ। इस मनुष्यपने में भी ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा के धर्म का श्रवण महा दुर्लभ है। प्रसन्नतापूर्वक चैतन्यस्वरूप के प्रेम से उसकी बात भी जिसने सुनी है, वह जीव अल्पकाल में अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है। इन्द्र स्वर्ग में से जो बात सुनने के लिये नीचे मनुष्य-लोक में उतरते हैं, ऐसा यह धर्मश्रवण जीव को दुर्लभ है। राग से भिन्न चैतन्य का श्रवण करके, दोनों का भेदज्ञान करके राग से भिन्न चैतन्य का अनुभव करना, वह अपूर्व धर्म है।

— अपना स्वरूप समझने से अनंत सुख होता है और दुःख मिटता है।

— स्वरूप समझे बिना दुःख मिटता नहीं है और सुख की प्राप्ति नहीं होती।

भाई, अनन्त काल स्वरूप समझे बिना चला गया। अब तो चैतन्य की प्रीति करके उसे समझ। यह ऐसी बात नहीं है कि तेरी समझ में न आये। परंतु पहले से ही 'यह बात मेरी समझ में नहीं आयेगी'—ऐसा मानकर समझने की जिज्ञासा ही छोड़ दे तो कहाँ से समझ में आय ?....

व्यापार-धंधे की या बाहरी बातों में कैसा उत्साह से रस लेता है? वहाँ समझ में नहीं आयेगा—ऐसा मानकर छोड़ नहीं देता क्योंकि उसकी रुचि और प्रेम है। उसीप्रकार आत्मा स्वयं चैतन्यवस्तु है, उसे अपना स्वरूप समझने के लिये अंतर में प्रेम, रुचि एवं उत्साह हो तो जरूर समझ में आये ऐसा है। अपना स्वरूप अपने से गुप्त रहे, यह कैसे हो सकता है? स्वयं अपने को स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष हो, ऐसा स्वभाव है; परंतु राग द्वारा वह कभी अनुभव में नहीं आ सकता। अंतर की ज्ञानक्रिया द्वारा ही अनुभव में आये, ऐसा आत्मा है। (स्वानुभूत्या चकासते)

ज्ञानस्वरूप आत्मा के सिर पर राग के कर्तृत्व का बोझ डालना, वह उसका अनादर करने जैसा है। निर्दोष ज्ञान को विकारी-रागी मानना, उसमें ज्ञान की अरुचि है, उसे अपने आत्मा के स्वभाव पर क्रोध है। (स्वभाव की अरुचि ही क्रोध है।) जहाँ राग की रुचि है, राग का कर्तृत्व है, वहाँ आत्मा का ज्ञान नहीं होता। चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंदमय स्वाद को भूलकर अज्ञानी राग के स्वाद में मोहित हो गया है; राग ही मैं हूँ—ऐसा वह अनुभव करता है, राग से भिन्न अपना स्वरूप उसे भासित नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान और संत उसे समझाते हैं कि—अरे जीव! ज्ञान और राग का एक वस्तुपना नहीं है परंतु भिन्नपना है। ज्ञान के अनुभव में राग का अंशमात्र भासित नहीं होता।—ऐसे अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का जो अनुभव करता है, वह रागादि आस्रवों को अपने से बिल्कुल भिन्न देखता है, इसलिये उनके साथ की कर्ताकर्म की प्रवृत्ति उसे छूट जाती है और ऐसा होने से अज्ञान के कारण होनेवाला कर्मबंधन भी छूट जाता है। इसप्रकार ज्ञानभाव द्वारा कर्मबंधन से छूटकर जीव मुक्ति प्राप्त करता है। ऐसी भेदज्ञानरूप ज्ञानचेतना वह मोक्ष का उपाय है।

किसी को प्रतिदिन लाखों-करोड़ों की आमदनी है—ऐसा सुनते ही अंतर से उसकी महिमा आ जाती है कि—'ओ हो!...' क्योंकि स्वयं को उसका प्रेम है; उसीप्रकार अपने चैतन्यस्वभाव की बात सुनकर अंतर से उसकी महिमा आना चाहिये कि—'ओ हो! ऐसा मेरा आत्मा!...' इसप्रकार महिमा और उल्लास प्रगट करे तो अंतर्मुखदशा होकर आत्मा का अनुभव करे। जिसकी रुचि हो, उस ओर परिणमन होता है। पर से भेदज्ञान करके अपने स्वभाव की ओर परिणमन करने में जीव की शोभा है... अपनी प्रभुता द्वारा जीव की शोभा है। परवस्तु द्वारा या परभाव द्वारा अपनी शोभा मानता, वह तो हीनता-दीनता-अज्ञान है।

'राजा' उसे कहा जाता है जो चैतन्य के अनंतगुण साम्राज्य का स्वामी होकर

वीतरागरूप से शोभायमान हो... जड़ का स्वामी होने जाये, वह तो अपराधी है और वह संसाररूपी जेल में बंद रहेगा... उसे 'राजा' कौन कहे ? जो अपने सुख के लिये परवस्तु माँगता है, वह तो भिखारी है। मेरा सुख मुझमें है, अपने अनंत गुणों का स्वराज्य मुझमें है, परवस्तु के अंश की भी आवश्यकता नहीं है—इसप्रकार निजगुण के आनंद का स्वाधीनरूप से अनुभव करनेवाले ज्ञानी-धर्मात्मा, वे महान चक्रवर्ती हैं।

भाई, यह तो अरिहंतों और तीर्थंकरों का मार्ग है। वीतराग का मार्ग तो वीरों का मार्ग है, इसमें कायरों का काम नहीं। कायर अर्थात् जो ऐसा मानें कि शुभराग के बिना या शरीर की क्रिया के बिना मेरा काम नहीं चल सकता, ऐसी पराधीनबुद्धिवाले जीव वीतराग के मार्ग में नहीं चल सकते। 'हरि का मारग है शूरों का, कायर का नहिं काम।' मेरे चैतन्य को पार की अपेक्षा नहीं है, राग की अपेक्षा नहीं है—ऐसी स्वाधीनदृष्टिरूप शूरवीरता द्वारा मोक्षमार्ग की साधना होती है।

जिसप्रकार श्रीफल में चार वस्तुएँ हैं—(१) ऊपर के जटे; (२) नरेली; (३) गोले के ऊपर का लाल छिलका और (४) अंदर का सफेद मीठा गोला। उसीप्रकार ज्ञान-आनंद से भरपूर श्रीफल जैसा यह भगवान आत्मा बाहर के जटों जैसे देहादि संयोगों से भिन्न, आठ कर्मोंरूपी नरेली से भी भिन्न और अंतर में रागादि परभावरूपी जो छिलका उससे भी भिन्न शुद्ध ज्ञान एवं आनंदरस से परिपूर्ण असंख्यप्रदेशी चैतन्यगोला है।

ऐसे आत्मा की प्रतीति करके जहाँ जीव सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित हुआ, वहाँ उस ज्ञान के साथ क्रोधादि नहीं वर्तते; क्रोधादि तो ज्ञान से भिन्नरूप ही वर्तते हैं। ज्ञान हो और उसमें राग का कर्तृत्व भी रहे, ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं। जड़ और चेतन कभी एक नहीं होते, उसीप्रकार ज्ञानभाव और रागभाव भी कभी एक नहीं होते, दोनों के लक्षण भिन्न हैं।—इसप्रकार दोनों के भिन्न लक्षणों द्वारा भिन्नता जानने से जीव ज्ञानमयभाव में ही तन्मयरूप से परिणमित होता है और विकार में तन्मयरूप से परिणमित नहीं होता। उस-उस काल वर्तते हुए राग के ज्ञानरूप परिणमित होता है, उस ज्ञान का कर्तृत्व ज्ञानी को है, परंतु राग का कर्तृत्व ज्ञानी को नहीं है। जिसप्रकार गुड़ का परिणमन गुड़रूप मीठा होता है, काले जीरेरूप कड़वा नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञान का परिणमन ज्ञानरूप होता है, ज्ञान का परिणमन रागरूप नहीं होता।—ऐसा जानकर राग के अकर्तारूप परिणमित ज्ञानी को बंधन नहीं होता। इसप्रकार ज्ञानभाव द्वारा बंधन का निरोध होता है, इसलिये भेदज्ञान वह मोक्ष का मार्ग है।●

प्रश्नोत्तर

(जैनदर्शन शिक्षणवर्ग से)

प्रश्न—पाप से सुख होता है और पुण्य से धर्म (निर्मलपरिणामरूप मोक्षमार्ग) ऐसा है—ऐसा मानने में कौन तत्त्व की भूल है ?

उत्तर—देह में और राग में रुचि रखनेरूप सातों तत्त्व की भूल है।

प्रश्न—पाप से सुख कौन मानता होगा ? धर्म में रुचिवान तो ऐसा नहीं मानता।

उत्तर—जो धर्म के नाम पर बाह्य-आचरण में अपना वास्तविक भला होना मानते हैं; जो लक्षणदृष्टि से हेय-उपादेय तत्त्व को जानते ही नहीं; पराश्रय-व्यवहार को निश्चयरूप मानते हैं, वे सब अविवेकी जीव पाप से सुख मानते हैं। भले बाह्य में त्यागी-वैरागी दिख रहा हो, परंतु वह ऐसा मानता है कि—प्रथम निमित्त चाहिये, शुभराग चाहिये, परद्रव्य से भला-बुरा होता है, मुझे अनुकूल सामग्री-निरोग शरीर आदि सुविधा हो तो सुख-शांति से धर्म हो सकता है। बस, ऐसी मान्यता में देह और रागादिक में एकताबुद्धि, पर में इष्ट-अनिष्टपना, और अनुकूल सामग्री भोगने का पापभाव करनेयोग्य माना ही है। इसलिये उसे पाप से सुख मानने का अभिप्राय है।

पुण्य करने से, शुभराग करने से अच्छी सामग्री मिलेगी; अच्छे निमित्त मिलें तो धर्म होगा; ऐसा मानने में पुण्य-शुभराग को कर्तव्य-धर्म माना ही है। बस, उसे राग की रुचि और ज्ञातास्वभाव की अरुचि में आस्रव की भावना होने से सातों तत्त्व की भूल है।

सच्चे स्नेह का उल्लास

आत्मार्थी जीव अपनी प्रभुता को सुनकर उल्लसित हो उठता है कि—वाह ! मेरे चैतन्य की प्रभुता में विकल्प को अवकाश ही कहाँ है ? विकल्प की ओर का उत्साह छूटकर स्वभाव की ओर उसका वीर्य उल्लसित होता है... प्रभुता की ओर का पुरुषार्थ प्रगट करके वह विकल्प से भिन्न चैतन्यतत्त्व का अनुभव करता है; चैतन्य की गहराई में उतरकर अतीन्द्रिय सुख की थाँह लेता है। जिसप्रकार बहुत दिनों से बिछुड़ हुए पुत्र को देखकर अत्यंत स्नेह के उल्लास से माता के आँचल में दूध की धारा बहने लगती है, उसीप्रकार अपनी प्रभुता का जिसे प्रेम है, उसे उसकी बात सुनते ही प्रेम उमड़ पड़ता है और अंतर से चैतन्य के आनंदरस की धारा छूटती है... उसका रोम-रोम उल्लसित हो जाता है अर्थात् सर्वगुणों में प्रदेश-प्रदेश में अनुभवरस की धारा बहने लगती है।

पंडित बनारसीदासजी कृत—'समयसार-नाटक' एवं

पंडित टोडरमलजी कृत—'मोक्षमार्गप्रकाशक' (द्वितीयावृत्ति)

को

सुंदर ढंग से प्रकाशित करने का निर्णय किया गया है। जो सज्जन १.२५ (सवा रुपया) प्रति पुस्तक के हिसाब से अग्रिम भेजकर अपना आर्डर लिखवा देंगे उन्हीं को पुस्तकें भेजी जा सकेंगी। अत: निवेदन है कि—मुद्रणकार्य प्रारंभ होने से पूर्व ही अपना आर्डर एवं अग्रिम राशि भिजवा दें। पुस्तकें लागत मूल्य में या उससे भी कम में दी जायेंगी। यदि विभिन्न नगरों के मुमुक्षु-मंडल एकसाथ अपने आर्डर भिजवायें तो व्यवस्था में सुविधा रहेगी।

पता—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

विश्वतत्त्वों का सत्यस्वरूप सम्यक् अनेकांत द्वारा बतलाकर सच्चा समाधान, एवं अपूर्व शांति का उपाय दर्शानेवाले—

* सुरुचिपूर्ण प्रकाशन *

१	मुक्ति का मार्ग	०.५०	८	द्रव्यसंग्रह	०.८५
२	जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-१	०.७५	९	समयसार कलश-टीका	२.७५
	'' '' '' भाग-२ (प्रेस में)		१०	पंचास्तिकाय-संग्रह	३.५०
	'' '' '' भाग-३	०.५०	११	छहढाला (सचित्र)	१.००
३	चिद्विलास	१.५०	१२	नियमसार	४.००
४	समयसार प्रवचन (भाग-४)	४.००	१३	अध्यात्म-संदेश	१.५०
५	जैन बालपोथी	०.२५	१४	नियमसार (हरिगीत)	०.२५
६	समयसार पद्यानुवाद	०.२५	१५	धर्म के संबंध में अनेक भूलें	बिना मूल्य
७	प्रवचनसार	४.००			

प्राप्तिस्थान :—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये प्रकाशक एवं मुद्रक :
मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)